तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

जीवन की पोथी

युवाचार्य महाप्रज्ञ

मुनि दुलहराज

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन कोश।

प्रथम संस्करण : सितम्बर, १९८६

मूल्य : पन्द्रह रुपये/प्रकाशक : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राजस्थान) / मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१ ३०६।

JEEVAN KI POTHI
Yuvacharya Mahaprajna
Rs. 15.00

प्रस्तुति

जीवन एक महाग्रन्थ है। उसकी अनेक व्याख्याएं लिखी जा चुकी हैं और लिखी जा रही हैं। अवकाश बना हुआ है। इसलिए भविष्य में लिखी जाती रहेगी। जीवन का एक पक्ष शारीरिक है, वह दृश्य है। चर्म, मांस और अस्थि से संवलित है। उसका दूसरा पक्ष चैतन्य है वह हमारी ईश्वरीय सत्ता है। हम लोग शरीर से अधिक जुड़े हुए हैं इसलिए शरीर को अधिक भोग रहे हैं। जहां शरीर है वहां रोग है, बुढ़ापा है, जन्म है, मरण है, संयोग है, वियोग है, ये सब कुछ हैं। इन्हें भोगते समय सुख-दुःख की अनुभूति भी होती है। रोग और बुढ़ापे को भोगना और दुःखी होना एक बात नहीं है। दुःखी बने बिना उन्हें भोगा जा सकता है। यह तभी संभव है जब हम अपनी ईश्वरीय सत्ता के साथ संपर्क स्थापित करें।

जीवन ग्रन्थ के एक अध्याय को पढ़ने वाला अच्छा जीवन नहीं जी सकता। अच्छा जीवन जीने के लिए दूसरा अध्याय पढ़ना भी नितान्त आवश्यक है। उसे पढ़ने पर ही आदत को बदलने का प्रश्न उपस्थित हो सकता है और प्रश्न उपस्थित हो सकता है अखंड व्यक्तित्व का। जीवन के दोनों अध्याय पृथक् होते हुए भी सर्वथा पृथक् नहीं हैं। उन्हें जोड़ने वाले दो सेतु हैं—मैत्री और जागरूकता। जिसने इन दो सेतुबन्धों का स्पर्श किया है वही सुख, शान्ति और सफलता का जीवन जी सकता है, नकारात्मक दृष्टि से हटकर सृजनात्मकता का उल्लासभरा पर्व मना सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में यही दृष्टिकोण उभर कर सामने आ रहा है। इसके संपादन में मुनि दुलहराजजी का श्रम मुखर हो रहा है। आचार्यश्री का आशीर्वाद और अध्यात्म का प्रसाद—ये जन-जन तक पहुंच पाएंगे।

२०-८-८६
जैन विश्व भारती
लाडनूं

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

• ईश्वर : मैत्री

• प्रश्न है प्रश्न

• जीवन की पोथी

• जागरूकता

क्या ईश्वर है ?

अनेक औषधियां खोजी गई और अनेक उपाय खोजे गए जिससे कि बुढ़ापा न आए। आज भी खोज चालू है। कुछ नियंत्रण भी पाया है। अमरत्व की खोज भी चालू है। हमारा आदर्श है—अजर और अमर। न जरा और न मौत। सुख भी ऐसा कि जिसमें कोई बाधा न हो। वह सुख नहीं कि जिसमें एक क्षण तो सुख होता है और दूसरे क्षण में दुःख होता है। वैसा सुख नहीं। निर्विघ्न सुख—जिसमें कोई बाधा नहीं, कोई रुकावट नहीं। निरंतर सुख का प्रवाह चालू होता है। यानी अनंत सुख और अबाध सुख। अनंत ज्ञान। ज्ञान भी सीमातीत हो। अनंत शक्ति। शक्ति भी असीम। इन सबको मिलाएं तो हमारे आदर्श की प्रतिमा बन जाएगी। और उस आदर्श की प्रतिमा का नाम है ईश्वर। वह अनंत ज्ञानमय, अनन्त शक्ति-संपन्न, अबाधित सुख-संपन्न, अजर और अमर होगा। अगर आपने उस आदर्श की प्रतिमा को बना लिया है तो बहुत अच्छी बात है। अगर नहीं बनाया हो तो बना लें। है तो बहुत अच्छी बात, अगर न है तो इस प्रकार के ईश्वर का हमें निर्माण करना है। हमें उस अवस्था में पहुंचना है जहां ये सारी बातें मिलती है। हमारी दुनिया में ये सारी बातें नहीं है। शिव है पर साथ-साथ में अशिव भी है। बहुत सारे उपद्रव होते है। उपद्रव होते हैं तो शिव की प्रतिमा खंडित हो जाती है। आदमी अचल भी है पर चंचलता इतनी ज्यादा है कि अचलता समाप्त हो जाती है। आरोग्य भी है किन्तु जाने-अनजाने रोग शरीर पर उतर आता है। आदमी बीमार बन जाता है। हमारी दुनिया में बुढ़ापा भी है। ज्ञान भी है पर असीम नहीं है। शक्ति भी है पर असीम नहीं है। हैं सारी बातें, पर जिस दिशा में हमें प्रस्थान करना है, जहां हमारा लक्ष्य है, हमारा आदर्श है, हमारा ईश्वर है, उस अवस्था में ले जाने के लिए हमें कुछ प्रयोग करना है।

प्रयोग पंच-आचारात्मक है—

पहला आचार है—ज्ञान।

दूसरा आचार है—दर्शन।

तीसरा आचार है—चारित्र।

चौथा आचार है—तप।

पांचवा आचार है—वीर्य—शक्ति।

ज्ञान बहुत आवश्यक है। अज्ञानी आदमी उलझ जाता है, विमूढ़ बन जाता है, कर्त्तव्य को समझ नहीं पाता। मकड़ी अपने जाल में उलझती है, उसी प्रकार अज्ञानी उलझ जाता है। इन्सपेक्टर ने सिपाही से कहा कि तुमने चोर को पकड़ा क्यों नहीं? सिपाही बोला—"हुजूर! मैं क्या करूं, वह एक ऐसे घर मे घुसा जिसके बाहर लिखा था कि अन्दर आना मना है। मैं भीतर कैसे जाता चोर को पकड़ने के लिए।

अज्ञानी आदमी उलझ जाता है। वह सही निर्णय नहीं कर पाता और सही स्थिति को जान नहीं पाता। ज्ञान बहुत आवश्यक है।

कोरे ज्ञान से भी काम नही चल सकता। ज्ञान के बाद दृष्टिकोण का निर्माण भी जरूरी होता है। पहले ज्ञान होता है, फिर दृष्टिकोण बनता है। दृष्टिकोण और आस्था का निर्माण हुए बिना ज्ञान भी हमारा साथ नहीं देता। आस्था का निर्माण करना होता है।

जब ज्ञान, दृष्टिकोण या आस्था का निर्माण हो जाता है, फिर चारित्र—आचरण का निर्माण होता है। केवल ज्ञान या आस्था पार नहीं पहुंचा पाती, अभ्यास आवश्यक होता है। चारित्र अपेक्षित होता है।

नौका है, डांड है, नाविक है। जब तक नौका को खेया नहीं जाता तब तक नदी को पार नहीं किया जा सकता। एक तट से दूसरे तट पर नहीं पहुंचा जा सकता। खेना आवश्यक है, अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। अभ्यास तीसरा आचार है, तत्त्व है।

चौथा आचार है तप। प्रत्येक व्यक्ति जो प्रगति के पथ पर गतिशील है, उसके सामने कठिनाइयां आती हैं, समस्याएं आती हैं। जब तक उन कठिनाईयों से जूझने की क्षमता नही होती, तब तक जहां पहुंचना है वहां नहीं पहुंचा जा सकता। इसके लिए तपस्या आवश्यक है। तपस्या का अर्थ केवल उपवास करना मात्र नहीं है। तपस्या का अर्थ है—आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों को झेलना, उनसे जूझना।

पांचवा आचार है—वीर्य, पराक्रम। पराक्रम के बिना न तपस्या हो सकती है, न आचरण हो सकता है, न आस्था का निर्माण हो सकता है और न ज्ञान हो सकता है। सबके मूल में है पराक्रम, प्रयत्न।

ध्यान का अभ्यास करने वाले अपने आदर्श की दिशा में प्रस्थान

करते हैं, ईश्वर की सन्निधि में जाने या स्वयं ईश्वर बनने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें इस पांच आचारात्मक प्रयोग पर ध्यान देना होगा। प्रेक्षाध्यान के प्रयोग में इनका विकास सन्निहित है।

प्रश्न होता है कि क्या श्वास को देखने से निर्जरा होगी ? कैसे होगी ? न हम स्वाध्याय करते हैं, न जप करते हैं, न उपवास करते हैं। केवल आते-जाते श्वास को देख रहे हैं। देखने मात्र से निर्जरा कैसे होगी ? साधु, संन्यासी और तपस्वी के दर्शन करने से निर्जरा होती है, कर्म-निर्जरण होता है। हमारा श्वास न साधु है, न संन्यासी है, न तपस्वी है, न अर्हत् है, न सिद्ध है। फिर उसके दर्शन से कर्म-निर्जरा कैसे होगी ? यह तो भौतिक तत्त्वों का मिश्रण मात्र है। फिर यह कर्म-निर्जरा का हेतु कैसे बन सकता है ?

प्रश्न श्वास को देखने का नहीं है। उसके साथ कुछ और जुड़ा हुआ है। हमें उस शक्ति को विकसित करना है जो शक्ति हमें ईश्वर बना सकती है, आदर्श तक ले जा सकती है। वह शक्ति है चित्त की पवित्रता। कोई भी व्यक्ति चित्त की पवित्रता के बिना आज तक न आदर्श तक पहुंचा और न कोई पहुंच पाएगा। वे ही व्यक्ति अपने आदर्श तक पहुंचे हैं जिन्होंने अपने चित्त की निर्मलता की साधना की है, एक भोले बालक की तरह अपने चित्त को बिलकुल निर्मल बनाया है।

महाप्रभु यीशु से पूछा किसी ने कि स्वर्ग में कौन जा सकता है ? तत्काल उन्होंने बच्चे को उठाया हाथ में और कहा कि जिसका चित्त इस बच्चे की भांति निर्मल होगा वह स्वर्ग में जा सकेगा।

भगवान् महावीर से पूछा, धर्म क्या है ? धर्म का आवास कहां है ? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया धर्म पवित्र आत्मा में है। फिर पूछा, पवित्र कौन है ? उत्तर मिला पवित्र वह है जो सरल है। प्रवंचना करता है, छलना करता है और ठगाई करता है, छुपाना जानता है वह अपवित्र है। उस आत्मा में धर्म नहीं टिकता। जिसमें कोई वंचना नहीं, ऋजुता और सरलता है, उसका चित्त निर्मल है, उसमें धर्म टिकता है। जहां कपट है वहां धर्म कहां से टिक पाएगा ?

जो सरल और पवित्र होता है वह विकास कर सकता है। चित्त की पवित्रता के लिए चंचलता को मिटाना जरूरी है। चंचलता को मिटाने के लिए श्वास का आलंबन लेना है। यह एक आलंबन है। जैसे नौका को उस पार ले जाने के लिए डांड जरूरी है। उसके बिना वह नौका पार नहीं जा

सकती। डांड पर बैठा नहीं जा सकता, पर डांड का इतना ही मूल्य है कि उससे नौका को खेया जा सकता है। श्वास का इतना मूल्य है कि इसके माध्यम से चित्त की चंचलता को दूर किया जा सकता है, चित्त को स्थिर किया जा सकता है। जब चित्त स्थिर बनता है तब चित्त की निर्मलता अपने आप शुरू हो जाती है।

जिस व्यक्ति ने अपने चित्त को स्थिर और शान्त बना लिया इसके लिए दरवाजा अपने आप खुल जाता है। जिसका चित्त चंचल है उसके लिए दरवाजा बन्द है। आगे बढ़ने का दरवाजा बिल्कुल बन्द है। प्रेक्षाध्यान इन पांच आचारों को शिक्षित करने के लिए पांच केन्द्रों का अभ्यास प्रस्तुत करता है। ज्ञान की शक्ति को विकसित करना है तो ज्ञानकेन्द्र का अभ्यास करना होगा, ज्ञानकेन्द्र को विकसित करना होगा। चोटी का स्थान ज्ञानकेन्द्र का स्थान है। हमारी सारी ज्ञान-शक्ति, बुद्धि की शक्ति है मस्तिष्क में। ज्ञानकेन्द्र को विकसित किए बिना ज्ञान नहीं पाया जा सकता। चोटी का स्थान ज्ञानकेन्द्र है। जो इसकी आराधना कर पाएगा वह अपने असीम ज्ञानशक्ति की आराधना कर पाएगा।

दूसरा है दर्शन। दर्शन की शक्ति को विकसित करने के लिए दर्शन-केन्द्र की आराधना करनी होती है। यह स्थान दोनों आंखों और दोनों भृकुटियों के बीच का स्थान है। यह स्थान जितना निर्मल और सक्रिय होगा हमारा दृष्टिकोण उतना ही दूरगामी और अन्तर्गामी, सूक्ष्म, भीतर की शक्तियों को उजागर करने वाला होगा। वह एक अखंडित आस्था का और साक्षात्कार की आस्था का निर्माण करने वाला होगा। वह आस्था जो कोरी मान्यता के आधार पर बनती है, वह टिक नहीं पाती। वही आस्था टिक पाती है जो अपने आन्तरिक अनुभवों के आधार पर बनती है। यह क्षेत्र हमारी आन्तरिक अनुभूतियों का क्षेत्र है। यह अन्तर्दृष्टि का क्षेत्र है। यहां जो अनुभव होता है और उस अनुभव के आधार पर जिस आस्था का निर्माण होता है वह आस्था कभी खंडित नहीं होती। किसी की भी ताकत नहीं कि उस आस्था को खंडित कर सके। सुनी-सुनाई और रटी-रटाई बात को हर कोई खंडित कर सकता है। पर अपनी जानी हुई और अनुभूत की हुई बात को कोई खंडित नहीं कर सकता।

तीसरा है चारित्र का आचार। इसके लिए आनन्द केन्द्र को विकसित करना है। इसका स्थान है—फुफ्फुस के नीचे हृदय के पास। इसकी आराधना

करनी है। जिसका यह स्थान सक्रिय होता है वह व्यक्ति निरंतर आनन्द का अनुभव करता है। चारित्र और आनन्द कोई दो बात नहीं है। चारित्र को आनन्द कहा जा सकता है और आनन्द को चारित्र कहा जा सकता है। जिस व्यक्ति में आनन्द की अनुभूति नहीं है उसका चारित्र विकृत बनता है। जब अपने भीतर से आनन्द प्रगट नहीं होता है तो अपने आपको आनन्दित करने के लिए आदमी तंबाखू पीता है। जिसे अपना आनन्द उपलब्ध नहीं होता वह शराब पीकर आनन्द पाना चाहता है। पदार्थ से होने वाले जितने आनन्द हैं वे सारे आदमी के लिए तब जरूरी बनते हैं जब अपना आनन्द उसे प्राप्त नहीं होता। जिस व्यक्ति को अपना आनन्द उपलब्ध हो गया, उसे न शराब की जरूरत है, न तम्बाखू की जरूरत है और न किसी मादक वस्तु की जरूरत है।

यह चारित्र हमारे आनन्द की अनुभूति है। इसकी आराधना आनन्द-केन्द्र के माध्यम से की जा सकती है।

चौथा है तप। तप की आराधना तैजसकेन्द्र पर की जा सकती है। तैजसकेन्द्र है नाभि का स्थान। इसकी आराधना से आदमी में सहन करने की शक्ति, साहस और पराक्रम का उदय होता है। जिसका नाभि-स्थल विकसित नहीं होता, वह कायर, दुर्बल और पराक्रमहीन होता है। जो शक्ति-हीन होता है वह कुछ भी नहीं कर पाता। अतः तप के आराधना क्षेत्र को जागृत करना आवश्यक है।

पांचवां है वीर्य—पराक्रम। शक्तिकेन्द्र और स्वास्थ्यकेन्द्र—दोनों वीर्य की आराधना के क्षेत्र हैं। जिसने शक्तिकेन्द्र या स्वास्थ्यकेन्द्र, जो जननेन्द्रिय का स्थान है, उसे ठीक से नहीं समझा वह शक्तिशाली नहीं बन पाएगा। वह जीवन में कुछ भी नहीं कर पाएगा। आज यौवन को चिरस्थायी बनाने और बुढ़ापे के न आने की खोज चल रही है। अनेक वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जिनका अण्डकोश शक्तिशाली नहीं होता वे दुर्बल होते हैं। अनेक लोग बूढे होने पर अण्डकोश का प्रत्यारोपण करवाते हैं। बन्दरों के अण्डकोशों का प्रत्यारोपण होता है, उससे पुनः नई शक्ति का संचार होता है। प्रचंड कामुकता या अत्यन्त कामवासना के कारण यह "पेलरिक" प्रदेश कमजोर हो जाता है। उसकी कमजोरी अर्थात् शक्तिकेन्द्र की कमजोरी का अर्थ है मस्तिष्क और स्नायु-संस्थान की कमजोरी। जिसका स्नायु-संस्थान कमजोर बन गया, वह ज्ञान, दर्शन और आनन्द का विकास कैसे कर पाएगा? वह तप का

पर वह कंजूस था। उसके पुत्र की शिकायत रहती थी कि पिताजी न पहनने को अच्छा कपड़ा ही देते हैं और न खाने के लिए पूरा भोजन ही। पुत्रवधू की भी यही शिकायत थी। लोग मजाक उड़ाते। अर्थवसु सब कुछ सहता। पर खर्च उतना ही करता जितना वह उचित समझता था।

एक बार नालंदा विश्वविद्यालय की योजना उसके सामने आई। अर्थवसु ने अपनी सारी संपत्ति नालंदा संघ-विहार के लिए समर्पित कर दी। करोड़ों की संपत्ति! यह बात बुद्ध तक पहुंची। बुद्ध को आश्चर्य हुआ। अर्थवसु को पूछा—एक पैसा देना तुम्हारे लिए कठिन था और तुमने अपनी करोड़ों की संपत्ति दान में दे दी। यह परिवर्तन कैसे आया? अर्थवसु बोला—भगवन्! मैं सर्वोत्तम क्षण की प्रतीक्षा में था। सर्वोत्तम कार्य की तलाश में था। अन्यान्य कार्य मुझे बहुत छोटे लग रहे थे। यह कार्य मुझे सर्वोत्तम लगा और मैंने अपनी सारी संपत्ति दान में दे दी।

साधकों के समक्ष भी अध्यात्म का सर्वोत्तम क्षण उपस्थित हुआ है। उनके पास अपार संपत्ति है। वे संपदा का नियोजन करें, जिससे कि अनेक दुर्लभ शक्तियां जागृत हों और उन्हें आदर्श की प्राप्ति सहज हो जाए। उनमें स्वयं ईश्वर का अनुभव जागे, फिर उन्हें पूछना न पड़े कि क्या ईश्वर है?

क्या ज्ञान ईश्वर है ?

गाय का दूध होता है, और बकरी का भी दूध होता। इन प्राणियों का ही नहीं, आक और थूहर का भी दूध होता है। सब दूध सफेद होता है।

पूछा जाए कि क्या दूध प्रोटीन देने वाला है ? पोषण और जीवन तत्त्व देने वाला है ? इसका उत्तर विभज्यवाद के आधार पर ही दिया जा सकता है। एक भाषा में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। दूध पोषक भी हो सकता है और मारक भी हो सकता है। यदि कोई गाय के दूध के बदले आक का दूध पी जाए तो वह मर जाएगा। दूध मारक भी होता है।

प्रश्न है कि क्या ज्ञान ईश्वर है ? इसका भी उत्तर एक भाषा में नहीं दिया जा सकता। विभज्यवाद के आधार पर ही इसका उत्तर हो सकता है। ज्ञान ईश्वर भी है और नहीं भी है। ज्ञान ईश्वर के निकट ले जाने वाला भी है और ईश्वर से दूर ले जाने वाला भी है। ज्ञान का स्वरूप एक नहीं है। उसकी प्रकृति भी एक नहीं है।

जिससे जाना जाता है, वह ज्ञान है। यह ज्ञान की परिभाषा है। किन्तु संदर्भ के आधार पर ज्ञान का अर्थ बदल जाता है, उसका तात्पर्य बदल जाता है। आध्यात्मिक पुरुषों ने उस ज्ञान को अज्ञान कहा है जो राग-द्वेष को बढ़ाता है। उनकी दृष्टि में वही ज्ञान ज्ञान है जो राग-द्वेष को कम करता है, मैत्री को बढ़ाता है। वीतरागता और मैत्री को वृद्धिगत करने वाला ज्ञान ही ज्ञान है और वही ईश्वर है।

आज की सारी समस्या ज्ञान की समस्या है। आज मैत्री को बढ़ाने वाला या राग-द्वेष को कम करने वाला ज्ञान कम मिलता है, संघर्ष को बढ़ाने वाला और राग-द्वेष को पनपाने वाला ज्ञान अधिक मिलता है। यह एक भयंकर समस्या है।

आजीविका को चलाने और तथ्यों को जानने के लिए बौद्धिक ज्ञान जरूरी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जहां आजीविका का प्रश्न है वहां गणित, भाषा, तर्क, विज्ञान और शिल्प का ज्ञान जरूरी होता है। परन्तु वह ज्ञान ईश्वर या आत्मा की ओर ले जाने वाला नहीं है, वीतरागता की

ओर ले जाने वाला नहीं है। उस ज्ञान के आधार पर जो लोग जी रहे हैं, उन्होंने बहुत सारी समस्याएं पैदा की हैं और कर रहे हैं। उनके कारण अप्रामाणिकता, अनैतिकता, भ्रष्टाचार, दमन, शोषण—ये सारे चलते हैं। इन दोषों का मूल आधार वह ज्ञान ही है। जिनका बौद्धिक विकास अच्छा है, वे शायद अनैतिकता को बड़ी कुशलता के साथ करते हैं। जिनमें समझ कम है, वे अनैतिक आचरण बहुत कम मात्रा में करेंगे, कम सीमा में करेंगे और उसको छिपा नहीं पाएंगे। अनैतिक आचरण करना और उसका पता न लगने देना, यह कौशल तो है ही निश्चित, पर यह कौशल वही बरत सकता है जिसमें बुद्धि और तर्क का विकास पर्याप्त मात्रा में हो चुका है। वही सही को गलत और गलत को सही साबित कर सकता है।

जानना एक बात है और जानने के बाद बुराई से बचना बिल्कुल दूसरी बात है। जिसमें राग-द्वेष, आसक्ति, मूर्च्छा प्रबल होती है, वह बुराई को जान लेगा, पर उससे बच नहीं पाएगा।

उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसंग है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का मिलन अपने पूर्वजन्म के बन्धु चित्र से हुआ। चक्रवर्ती ने कहा—चित्र! तुम मेरे पास आ जाओ, इस विशाल सुख-सामग्री का भोग करो। जो जीवन में चाहिए उससे अधिक उपलब्ध है। यहां आओ, मेरे साथ उनका उपभोग करो। चित्र ने सुना और कहा—'राजन्! यह मत मानना कि मैं कोई भिखारी हूं। मैंने सुख-सुविधा के साधनों का त्याग किया है। जब उन्हें त्याग ही दिया तो फिर भोगने की बात ही नहीं आती। मैंने मूर्खता से नहीं त्यागा है, समझबूझ कर त्यागा है, क्योंकि मुझे यह स्पष्ट भान हो गया कि जीवन नश्वर है, पदार्थ अशाश्वत हैं। व्यक्ति को अपने कर्म स्वयं भोगने होते हैं। बन्धु-बांधव केवल पदार्थ के परिभोग में ही सहभागी बनते है, कर्म के भोग को नहीं बंटाते। किए गए कर्मों को स्वयं को ही भोगना पड़ता है।'

'राजन्! ये सारे गीत विलापतुल्य हैं, नृत्य विडंबनाएं हैं, आभूषण भार है और सारी कामनाएं दु:खद हैं। मैंने इस सचाई को जान लिया है, इसीलिए तुम्हारे निमंत्रण को स्वीकार नहीं कर सकता।'

यह भी एक ज्ञान है।

ब्रह्मदत्त कहता है—'मित्र! तुम जो कह रहे हो, वह सही है। मैं जानता हूं, पर मोह का आवरण इतना सघन है कि जानता हुआ भी छोड़ नहीं सकता। तुम्हारा मार्ग भिन्न है और मेरा मार्ग भिन्न है।'

दोनों मिले अवश्य, पर मिलकर भी अलग हो गए। क्योंकि दोनों का ज्ञान अलग-अलग था। एक का ज्ञान मूर्च्छा को तोड़ने में उद्यत था और दूसरे का ज्ञान मूर्च्छा को सघन बनाने वाला था। तथ्यों के जानने में दोनों समान थे। दोनों जानते थे, या सब जानते हैं, जो जनमता है वह अवश्य मरता है। मरण से सब डरते हैं, पर यह भय छूटता नहीं। ज्ञान मूर्च्छा से मुक्त नहीं है। वह शुद्ध ज्ञान नहीं है, इसलिए जानते हुए भी नहीं जान पा रहे हैं।

ज्ञान वह होता है जिससे मूर्च्छा का आवरण टूटता है और सचाई को ठीक वैसे ही जानते हैं जैसे जानना चाहिए। ऐसा ज्ञान बचाता है।

चीन का एक प्रसंग है। अधिकारी का नाम था पाईसेन। एक व्यापारी उसके पास आकर बोला—'मेरा अमुक कार्य है। आप उसको पार लगा दें। यह रहा पत्रं-पुष्पम्।' अधिकारी ने देखा कि व्यापारी उपहार में बहुत धनराशि दे रहा है। मन ललचाया। पर ज्ञान का अंकुश था। अधिकारी बोला—'भाई! तुम्हारी बात मान लेता और यह उपहार भी ले लेता, पर करूं क्या, यह बात तीन को ज्ञात हो गई। बात छह कानों तक पहुंच गई। जो बात छह कानों तक पहुंच जाती है, वह प्रचारित हुए बिना नहीं रहती। मैं क्षमा चाहता हूं।' व्यापारी बोला—'आप और मेरे सिवाय कोई इस बात को नहीं जानता। चार कानों तक सीमित है यह बात। छह कान नहीं जानते।' अधिकारी बोला—'नहीं, तीन को पता है। एक तुम जानते हो, दूसरा मैं जानता हूं और तीसरा परमात्मा जानता है। जो बात तीन तक पहुंच जाती है, वह नियन्त्रित नहीं रहती।'

अधिकारी ने आती हुई लक्ष्मी को ठुकराया। जो संपत्ति अनायास आ रही थी, अधिकारी ने उसे नकार दिया। आज की भाषा में यह उस अधिकारी की मूर्खता कही जाएगी और अधिकारी को मूर्ख कहा जाएगा। पर हम सोचें। उसने उस संपदा को ठुकराया क्योंकि उसका ज्ञान मूर्च्छा से आवृत नहीं था, मोह से ग्रस्त नहीं था। वह ज्ञान उसे मैत्री और अनासक्ति की ओर अग्रसर करने वाला था। ऐसा ज्ञान ही ईश्वर होता है।

जो ज्ञान आसक्ति की ओर ले जाता है, वह ज्ञान व्यवहार की भाषा में भले ही ज्ञान कहा जाए, पर परमार्थतः वह अज्ञान ही है। अज्ञान से कोई भी आदमी प्रकाश की ओर नहीं जा सकता। अज्ञान अंधकार है। अंधकार अंधकार की ओर ही ले जाता है, प्रकाश की ओर नहीं। कांच प्रतिबिम्ब का साधन है, पर जब कांच अंधा हो जाता है तो वह प्रतिबिम्ब को नहीं पकड़

सकता। बल्ब प्रकाश की अभिव्यक्ति मे साधन बनता है, पर जब उसका फिलेमेंट टूट जाता है तब वह अर्थहीन हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान प्रकाश देता है, पर जब वह मूर्च्छा से आवृत होता है, तब वह अंधकार ही दे सकता है, प्रकाश नहीं।

आज का युग कम्प्यूटर का युग है। ज्ञान का बहुत विकास हुआ है। व्यवहार के सारे कार्य कम्प्यूटर कर देता है, कम्प्यूटर चालित यंत्र-मानव कर देता है। घर की सफाई, कपड़ो की धुलाई, कार का संचालन, कार में पेट्रोल की कमी की सूचना, खतरे की सूचना आदि-आदि कम्प्यूटर से सहज प्राप्त हो जाती हैं। विज्ञान की कितनी प्रगति! ज्ञान का कितना विकास! किन्तु इतना होने पर भी क्या मैत्री और करुणा का विकास हुआ है? क्या आदमी आदमी के साथ मैत्रीपूर्ण जीवन बिता रहा है? क्या अणु अस्त्रों का और भयंकर कीटाणुओ का निर्माण नही हो रहा है? क्या आदमी को मारने की तैयारी नही की जा रही है? क्या ज्ञान इतना नही बढ गया है कि दस-बीस मिनिट में सारे संसार को खाक में बदल दे? यह सब उसी ज्ञान के द्वारा हो रहा है, जिस ज्ञान ने आदमी को ज्यादा से ज्यादा सुख-सुविधाएं दी हैं। जो ज्ञान सुख-सुविधाएं दे रहा है वही ज्ञान मनुष्य के संहार की उपलब्धि भी करा रहा है। यह विरोधाभास समझ से परे है। एक ओर मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अरबों रुपयों का खर्च कर औषधियों की खोज की जा रही है, सुख-सुविधाओ और पदार्थ-विकास के लिए भरपूर चेष्टाएं की जा रही हैं, आदमी के ओसतन आयु की वृद्धि के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे है तो दूसरी ओर ऐसे भयंकर शस्त्रास्त्रों का निर्माण भी किया जा रहा है जिनसे मनुष्य को अल्पतम समय मे मारा जा सके, मानवजाति को नेस्तनाबूद किया जा सके। यह विरोधाभास किससे पैदा हुआ? यह उसी ज्ञान से उत्पन्न हुआ है जो ज्ञान आसक्ति और राग-द्वेष—इन दो तटों के बीच बह रहा है। उस ज्ञान की धारा ने यह स्थिति उत्पन्न की है। जब तक मनुष्य का ज्ञान राग-द्वेष से संवलित रहेगा तब तक विरोधाभास बढ़ता रहेगा, फलता-फूलता रहेगा। यह सचाई है। पर यह सचाई उन लोगों के समझ में नही आ रही है जो राग-द्वेष का जीवन जी रहे हैं। उन्हे यह सारा विरोधाभास नही लगता। शस्त्रों का निर्माण करने वालों का तर्क है कि वे शक्ति-संतुलन के लिए शस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं, न कि मानव-संहार के लिए। वही अधिक शक्तिशाली होता है, जिसके पास अधिक शस्त्रास्त्र होते हैं।

जब मूर्च्छा टूटती है तब विरोधाभास का भान होता है, सोचने-समझने का अवसर मिलता है और आदमी तब जान पाता है कि क्या कुछ गलत हो रहा है। जब ज्ञान मूर्च्छा और आसक्ति के साथ चलता है तब आदमी पाताल में भी बुराई को खोज लेता है।

धर्मराज के समक्ष व्यापारी को उपस्थित किया गया। धर्मराज ने पूछा—बोलो, कहां जाना चाहते हो? स्वर्ग में या नरक में? व्यापारी बोला—मुझे स्वर्ग या नरक से कोई मतलब नहीं है। जहां दो पैसों की कमाई हो, वहां भेज दीजिए। यह आसक्ति का उदाहरण है। धन की आसक्ति होती है, वह ऐसा कह सकता है।

काल सौकरिक अपने जमाने का प्रसिद्ध कसाई था। वह प्रतिदिन पांच सौ भैंसे मारता था। सम्राट् ने उसे अन्धकूप में उतार दिया। वहां भी वह मिट्टी के काल्पनिक भैंसे बना अपना व्यसन पूरा करता रहा। यह एक प्रकार की आसक्ति यह ज्ञान था।

वह मर गया। उसके पुत्र सुलस को कुल का मुखिया बनाना था। उस समय एक भैंसे की बलि देनी होती थी। सारे कौटुम्बिक एकत्रित थे। सुलस को भैंसा मारने के लिए कहा गया। सुलस बोला—मैं भैंसा नहीं काट सकता। उसने भैंसे की बलि नहीं दी।

सुलस का ज्ञान कषायमुक्त था, जागरूक था। उसका ज्ञान योग बन गया। काल सौकरिक भैंसे काटे बिना रह नहीं सकता था तो सुलस भैंसे काट नहीं सकता था। अन्तर क्यों आया? ज्ञान ज्ञान है। किन्तु जो ज्ञान मूर्च्छा से जुड़ा होता है, वह बुराई की ओर ले जाता है। जो ज्ञान मूर्च्छा से विभक्त हो जाता है, स्वतंत्र ज्ञानधारा के रूप में प्रवाहित होता है, वह ज्ञान आदमी को ईश्वर बनाता है या वह ज्ञान स्वयं ईश्वर होता है।

प्रेक्षाध्यान केवल जानने-देखने का उपक्रम है। यदि कोई पूछे कि प्रेक्षाध्यान की सरलतम परिभाषा क्या है तो यह कहा जा सकता है कि प्रेक्षाध्यान का अर्थ है—केवल जानना, केवल देखना, केवल ज्ञान, केवल दर्शन। कोरा जानना या देखना हम नहीं जानते। हम ही क्या, दुनिया का विरल व्यक्ति ही कोरा जानता-देखता है। जो कोरा जानता-देखता है वही वीतराग है, ईश्वर है। हम आदमी को उपाधियों के साथ जानते हैं। यह अमुक है, यह प्रिय है, यह अप्रिय है, यह बेईमान है, यह ईमानदार है, यह एम० पी० है, यह मिनिस्टर है। हम कहां जान पाते हैं, देख पाते हैं कि यह चेतन है, यह आत्मा

है। हम बाह्य लिबासों से उसे जानते-देखते है, परिवेशों के साथ और उपाधियो के साथ उसे पहचानते हैं। यह ज्ञान शुद्ध नही होता। व्यवधानों और उपाधियों से मुक्त होकर जानना ही शुद्ध जानना है। जानने के साथ जब राग-द्वेष होता है तब वह ज्ञान हो जाता है और जब राग-द्वेष छूट जाता है तब वह जानना ध्यान बन जाता है।

वीतरागता कोई अचानक घटना नही है। वह धीरे-धीरे फलित होती है। हम वीतराग बन जाएं, और पूरे क्षण वीतरागता के जीएं, यह असंभव-सा है। पर हम कुछ क्षण वीतराग नही बन सकते, यह भी नही है। हम कुछ क्षणों को वीतराग की स्थिति मे जी सकते हैं। यह संभाव्यता ही ध्यान की परिणति है।

कोरिया का एक संत था रिझाई। उसके पास एक व्यक्ति आकर बोला—मैं साधना करना चाहता हूं। आप मुझे ऐसा उपाय बताएं कि मुझे सिद्धियां प्राप्त हो जाएं।' संत ने कहा—'साधना में कम से कम तीस वर्ष लगाने होंगे।' वह बोला—'तीस वर्ष !' रिझाई ने कहा—'तीस नहीं, साठ वर्ष लगाने होंगे।' साधक बोला—'यह क्या ? तीस के साठ हो गए ?' संत ने कहा—'तुम्हारे मन के संदेह ने तीस वर्ष बढ़ा डाले।' साधक घर चला गया। घर जाकर सोचा, अरे ! सिद्धि को पाने में यदि पूरी जिन्दगी बीत जाए तो कौनसी बड़ी बात है ! मैंने मूर्खता कर दी। वह पुनः लौट आया संत रिझाई के पास। वह संत से बोला—क्षमा करें। मैंने उतावले मे ना-समझी कर डाली। सिद्धि के लिए जितना भी समय लगे, वह मुझे स्वीकार है। आप उपाय बताएं और मुझे साधना में उतारें।

वह साधना करने लगा। तीन वर्ष में उसे सिद्धि मिल गई। उसने संत के चरणों मे मस्तक झुकाकर पूछा—आपने तो कहा था कि साठ वर्ष लगेंगे और मुझे तीन वर्षों में ही सिद्धि मिल गई। संत बोले—मैंने ठीक ही कहा था। जब तक उतावलापन होगा, संदेह और संशय होगा तो समय अधिक लगेगा ही। तुमने दोनो को छोड़ दिया तो सिद्धि तीन वर्ष में प्राप्त हो गई।'

तीन वर्ष मे वीतरागभाव प्राप्त हो सकता है। शर्त इतनी ही है कि मन में संदेह और असमंजसता न हो। दो मार्ग हैं—एक है राग का मार्ग और दूसरा है वीतराग का मार्ग। एक मार्ग का चुनाव कर हम चलें। वीतराग मार्ग पर चलने के लिए तत्पर हों तो उतावल न करें। मन में पूर्ण आस्था के साथ एक-एक कदम आगे बढ़ें। हमें कोरे ज्ञान और कोरे दर्शन की अनुभूति होगी, बोध होगा। यही ज्ञान ईश्वर है।

क्या मैं ईश्वर हूं ?

प्रेक्षाध्यान का अर्थ है—केवल ज्ञान और केवल ज्ञान का अर्थ है अपना ज्ञान, अपने आप को जानना, आत्म-ज्ञान। कुछ लोग पदार्थ का ज्ञान करते हैं, अपने आपको नहीं जानते। जिसने अपने आपको नहीं जाना वह दूसरे को ठीक ढंग से नहीं जान सकता। हमारे ज्ञान का मूल केन्द्र है आत्मज्ञान। जो अपने आपको जानता है वह दूसरों को यथार्थ में जान लेता है। जो अपने आपको नहीं जानता वह दूसरों को जानने का प्रयत्न करता है पर सही अर्थ में जान नहीं पाता।

आत्मज्ञानी और ईश्वर ये दो बातें नहीं हैं। जो ईश्वर है वह आत्मज्ञानी है और जो आत्मज्ञानी है वह ईश्वर है। आजकल एक भ्रांति है मनोविज्ञान के क्षेत्र में। मनोवैज्ञानिकों ने कहा—जो अपने आप में केन्द्रित रहता है वह आत्मरती बन जाता है, आत्मकेन्द्रित हो जाता है, फिर वह दूसरों की चिन्ता नहीं करता। अध्यात्म का या आत्मज्ञान का एक दोष बतलाया जाता है। आत्मरती होना और अपने आपमें केन्द्रित हो जाना। फिर वह आसपास की चिन्ता नहीं करता। इस प्रकार समाज की व्यवस्था मे एक त्रुटि आती है। आज इस बात को ठीक समझा नहीं गया आत्मज्ञान का अर्थ आत्मरती हो सकता है किन्तु आत्मरती स्वार्थी नही हो सकता। स्वार्थी अलग होता है और आत्म-केन्द्रित अलग होता है। स्वार्थी वह होता है जो अपने आपको नहीं जानता। आज की समस्या स्वार्थ की समस्या है। जितनी समस्याएं, जितनी बुराइयां हैं वे सब स्वार्थ के कारण हो रही हैं। आदमी अपने आपको, अपने घर को और अपने परिवार को भरना चाहता है। आत्मज्ञान और स्वार्थ में कोई रिश्ता नहीं है। जो जितना आत्मज्ञानी होगा वह उतना ही स्वार्थ-मुक्त होगा। कोई स्वार्थ उसमें नही हो सकता। स्वार्थी वह होता है जो अपने आप से दूर रहता है। स्वार्थी हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, संग्रह करता है, हत्या करता है, दूसरों को सताता है, सब कुछ करता है। क्यों करता है ? क्योंकि वह भीड़ में जीना चाहता है। आत्मज्ञानी अकेले मे जीना जानता है।

दो प्रकार के लोग होते हैं—एक वे जो अकेले में जीना जानते हैं, दूसरे वे जो भीड़ में जीना जानते हैं। जिसने अपने आपको जानने का प्रयत्न नहीं किया वह अकेला जीना नही जानता, अकेलेपन के रहस्य को नही जानता। जो अपने आपसे दूर है वह भीड़ में जीता है। एक अकेले का जीवन है और एक भीड़ का जीवन है। ये दो प्रकार के जीवन हमारे लिए बहुत जानने योग्य हैं।

आज की समस्या है भीड़ का जीवन। समस्या से मुक्त होने का उपाय है अकेलेपन का जीवन। आदमी भीतर में अकेला होता है और बाहर मे सबके साथ रहता है, वह है आत्मज्ञानी। जो भीतर में भीड़ मे रहता है और बाहर में अकेला होना चाहता है, वह है स्वार्थी। भीतर मे तो भीड़ है और बाहर में अकेला, बस अकेला, अपने लिए ही सब कुछ चाहता है। धन अपने लिए, संपति अपने लिए, प्रतिष्ठा अपने लिए, पूजा अपने लिए, सब अपने लिए, वह होता है स्वार्थी। उसके भीतर इतनी भीड है, इतना कोलाहल है कि कही छुट्टी नहीं मिलती। सारे संस्कार, वासनाएं, कषाय—सब भीतर मे अड्डा जमाए बैठे हैं। वह भीड़ में जी रहा है। वह स्वार्थी व्यक्ति होता है।

एक आदमी ने मधुमक्खियां पालीं। कोई मित्र आया। उसने पूछा—तुमने मधुमक्खियां पाली, उससे क्या कोई लाभ हुआ ? इतनी भीड़ बनाली तुमने, हजारों मधुमक्खियां ही मधुमक्खियां हैं। वह बोला—उनसे बहुत लाभ मिला है। आजकल मेहमान बहुत कम आने लगे हैं। वह सोचता है कि बड़ा लाभ हुआ, मेहमानों की भीड़ कम होने लग गई। पर दूसरी भीड़ कितनी बढ़ गई ? स्वार्थी आदमी सोचता है कि दूसरा कोई न आए। अकेला ही मैं सब कुछ भोगूं इसलिए वह भीड़ को पालता है। और भीड़ को पाले विना वह अकेला नही बन सकता। किन्तु ध्यान की साधना करने वाला आत्मज्ञानी ऐसा कभी नहीं सोचता। वह दूसरों के लिए अधिकतम कल्याणकारी बनता है।

अपराध कौन करता है ? जो स्वार्थी होता है, वह अपराध करता है। आदमी अपने स्वार्थ के लिए, अपने स्व के लिए, अपने आपको भरने के लिए, स्वयं धनपति और सुखी होने के लिए, अनैतिकता करता है, शोषण करता है। यदि स्वार्थ हट जाए तो कोई मिलावट नही होगी, अप्रामाणिकता नहीं होगी, बेईमानी नहीं होगी, कुछ भी नही होगा। स्वार्थी कभी दूसरे की चिन्ता नहीं करता। किन्तु जो अकेला रहना जानता है, उसके मन में

करुणा होती है, संवेदनशीलता होती है। उसे लगता है कि मैं जैसा हूं और मेरा स्वरूप जैसा है—मुझे जो लगता है उसका मुझे अनुभव है। इस प्रकार का अनुभव दूसरे को भी हो सकता है। यह अनुभूति की तीव्रता अकेलेपन में आ सकती है, भीड़ में कभी नही आ सकती। जिसने सदा भीड़ का जीवन जीया है, वह कभी अनुभव की गहराई में जा ही नही सकता। अनुभव की गहराई में वही व्यक्ति जा सकता है जिसने अकेलेपन का जीवन जीया है।

कोई कवि है, लेखक है, साहित्यकार है, अच्छी रचना करनी है, वह एकान्त खोजेगा। ऐसा स्थान कि जहां भीड़ न हो, कोलाहल न हो। वह एकान्त में बैठकर शान्त दिमाग से कोई अच्छी बात सोच पाएगा, लिख पाएगा। एकांत इसलिए कि अच्छी बात पैदा हो सके। किन्तु जो भीतर में अकेला बन गया, उसके लिए सर्वत्र एकान्तवास है। कहीं भी एकान्त, भीड़ है ही नही।

यह अकेलापन ईश्वर है, अकेला होना ईश्वर है। जो अकेला होना जानता है, वह ईश्वर है। जो अकेला होना जनता है, वह आत्मज्ञानी है। जो अकेला होना जानता है, वह आध्यात्मिक है। जो अकेला होना जानता है, वह धार्मिक है।

धर्म का सबसे पहला और सबसे अंतिम पाठ है अकेला होने की कला और अकेला होने का ज्ञान। हम लोग अकेला होना जानते नही। हम कभी-कभी एकान्त में जाकर बैठते हैं, कोई आदमी आसपास में नही होता, फिर भी स्मृतियों की भीड़ हो जाती है। इतनी स्मृतियां कि एक के बाद एक स्मृति उभरती रहती है। कभी अकेले जाकर बैठते हैं तो कल्पनाओं की भीड़ हो जाती है। कई कल्पनाएं आस पास में मंडराने लग जाती हैं और व्यक्ति को अकेला रहने ही नहीं देती। कभी विचारों की भीड़ हो जाती है। इतने विचार, इतने विकल्प कि एक के बाद एक विचार आता रहता है। आदमी अकेला हो ही नही पाता। सो हमारे चारों तरफ भीड़ ही भीड़ है। इन सारी भीड़ों के बीच यदि कोई अकेला हो पाता है तो बहुत सौभाग्य की बात है। वही व्यक्ति अकेला हो सकता है जिसने अपने आपको जानने का प्रयत्न किया है। ये कल्पनाएं मेरी नहीं हैं, स्मृतियां मेरी नहीं हैं, विचार मेरे नही हैं, सब के सब आरोपित हैं। मुझ पर अपना अधिकार जमाने के लिए आ रहे हैं। वास्तव में मेरे नहीं हैं। यह बात समझ में आ जाए तो इस भीड़ से बचा जा सकता है। ये क्यों आते हैं ? ये आते हैं मूर्छा के कारण। मूर्छा

है, जागरूकता नहीं है, तो स्मृतियां आएंगी, कल्पनाएं आएंगी, विचार आएंगे। और कुछ आएंगे। जिस क्षण हम जागरूक बनेंगे, सब चले जाएंगे। घर का मालिक सोता है तो चोर घुस आते हैं और वह जागता है तो चोर भाग जाते हैं। प्रश्न है जागरूकता का। जब हम कल्पनाओं, स्मृतियों और विचारों के प्रति जागरूक बनते हैं और उन विचारों को देखना शुरू करते हैं तो वे गायब होने लग जाते हैं। विचारों को देखना शुरू किया तो विचार बन्द, दरवाजा बन्द हो जाएगा और जिसने विचारों को नहीं देखा, शून्यता में रहा तो विचार अपना अड्डा जमा लेंगे। जागरूकता घटती है तो सब आकर अपना आसन बिछाने लग जाते हैं। मूल प्रश्न है जागरूकता का। जागरूकता आती है तभी व्यक्ति अकेला हो सकता है।

अकेलेपन का अनुभव शायद सबसे कठिन अनुभव है। दुनिया में और कोई बात इतनी कठिन नहीं है। आदमी कठिन से कठिन काम कर सकता है, पर अकेला नहीं हो सकता। यही सबसे ज्यादा कठिन है, तो साथ-साथ यही हमारी सबसे बड़ी शक्ति भी है। अकेलेपन का अनुभव सबसे बड़ा आनन्द है और अकेलेपन की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है।

वही व्यक्ति अकेला हो सकता है जो अभय है। डरने वाला आदमी कभी अकेला नहीं हो सकता। कहीं जाएगा तो साथ में किसी को लेकर जाएगा। डरपोक आदमी रात को सोएगा तो किसी दूसरे को पास में लेकर सोएगा। भीरु आदमी सदा दूसरे को पास में रखकर अपने आपको निश्चिन्त मानेगा, भय से मुक्त मानेगा।

किसी भी आदमी को आप देखें। किसी के हाथ में लाठी है, किसी के हाथ में तलवार है, किसी के हाथ में बन्दूक है, किसी के हाथ में मशीनगन है। यह सब क्यों है ? पहचान कर लें कि ये सारे के सारे डरपोक आदमी हैं। शस्त्र वह रखेगा जो कायर आदमी होगा, डरपोक आदमी होगा। शक्तिशाली आदमी कभी शस्त्र पास मे नहीं रखेगा। शस्त्र का विकास ही भय के साथ हुआ है। जिस आदमी ने डर को पाला, उसने शस्त्र का निर्माण किया।

महावीर अकेले घूम रहे थे। जंगलों में घूमे। शून्य घरों में रहे। उन लोगों के बीच रहे जो लोग संस्कृत नहीं थे और सभ्य नहीं थे। घोर जंगली आदमी थे। तो क्या महावीर के हाथ में लाठी थी ? क्या महावीर के हाथ मे तलवार और बन्दूक थी ? क्या था पास में ? भगवान् महावीर के पास उनका बड़ा भाई राजा नंदीवर्धन आया और बोला—भंते ! ये वनवासी

लोग, जंगल के चरवाहे, आकर आपको कष्ट दे देते हैं। आप तो ध्यानमुद्रा में खड़े रहते हैं। वे आकर आपको कष्ट देते हैं। आप हमें आज्ञा दें, हम ऐसी व्यवस्था करें कि आपको कोई कष्ट न हो।' उस समय महावीर ने कहा 'न भूतं, न भविष्यति—यह न हुआ है और न होगा कि तीर्थंकर किसी दूसरे के सहारे अपनी साधना चलाए। किसी दूसरे की छत्रछाया से अपने आपको सुरक्षित माने। यह न हुआ है, न है और न होगा। तीर्थंकर केवल अपने भरोसे पर ही, अपने बल पर ही साधना चलाते हैं। कोई चिन्ता मत करो।'

इसका नाम है ईश्वर। इसी का नाम है आत्मज्ञान। वही अकेला हो सकता है जो अभय है। भयभीत आदमी कभी अकेला हो ही नहीं सकता। हमेशा वह दूसरे की शरण में रहता है।

राजा जाता है और सैकड़ों सैनिक साथ में होते हैं। आजकल के शासक जाते हैं तो कितनी कड़ी सुरक्षा व्यवस्था होती है। पहरे पर पहरा और शस्त्रों पर शस्त्र। चारों ओर सुरक्षा की दीवारें खड़ी कर दी जाती हैं। इसका कारण है कि उनमें अकेला रहने की क्षमता नहीं है, अकेला होने की क्षमता नहीं है। व्यवहार का जगत् ही ऐसा है कि आदमी अकेला हो नहीं सकता। जो अकेला हो गया वह एक ऐसी दुनिया में पहुंच गया कि जहां जीने का मोह नहीं और मरने का भय नहीं है। दोनों बातें हों, उसी स्थिति में अकेलेपन का अनुभव होता है और उसी स्थिति में आदमी अभय हो सकता है। अकेला वह होता है जो तनाव से मुक्त होता है। तनावग्रस्त आदमी कभी अकेला नहीं हो सकता।

आज का संसार तनाव से भरा हुआ संसार है। छोटा बच्चा भी आज तनाव से भर जाता है। एक बारह वर्ष का बच्चा घर से क्यों निकल पड़ता है? एक १४ वर्ष का बच्चा घर क्यों छोड़ देता है? इसीलिए कि वह तनाव की घूटी लेकर ही जनमता है। माता पिता घूंटी देते हैं। वह जनमघूटी नहीं तनाव की घूंटी होती है। एक छोटा बच्चा भी तनाव से ग्रस्त है। मानसिक तनाव, भावनात्मक तनाव। तनाव ही तनाव। एक छोटे बच्चे में भी खिचाव है। वह भी खिंचाव से मुक्त नहीं है।

एक भाई ने सुनाया, वह अमेरिका गया और एक घर पर ठहरा। अतिथि होकर वह बैठा है और घर वाले बैठे हैं। दस-बारह वर्ष का बालक आया और माता-पिता के सामने कोई अनुचित व्यवहार करने लगा। पिता ने कहा—ऐसा मत करो। बच्चा बोला—'आप कौन होते हैं कहने वाले?

आईन्दा कभी मत कहना। यदि कहेंगें तो मैं शूट कर दूंगा।' वह पिता को कह रहा है और वह दस-बारह वर्ष का बच्चा कह रहा है। जहां की सभ्यता और संस्कृति ही ऐसी हो गई वहां इतना तनाव है कि छोटा बच्चा भी सीख जाता है कि मैं शूट कर दूंगा। ये ज्यादा अपराध, हत्याएं और आत्म-हत्याएं वहां होती हैं जहां तनाव की भरमार है। तनाव-मुक्त आदमी इस भाषा में कभी सोच ही नहीं सकता उसके दिमाग मे ऐसा आ ही नही सकता। सारे अपराधो की जो आधारशिला है वह है तनाव। इससे यह स्पष्ट है कि वह अकेला होना नही जानता। अकेला वह है जो तनाव से मुक्त है। अकेला वह है जो चिन्ता से मुक्त है। जो बहुत चिन्ता करता है, चिन्ता ही चिन्ता कि अब क्या होगा ? बुढापे में क्या होगा ? बेटे का क्या होगा ? अगली पीढ़ियों का क्या होगा ? सात पीढियों तक की चिन्ता करता है, पर पता नहीं है कल का, और चिन्ता करता है सात पीढ़ियों की ! जो आदमी चिन्ता से भरा रहता है, वह कभी अकेला नही हो सकता। अकेला वह होता है जो निश्चिन्त रहता है।

बगदाद मे एक सूफी संत हुए हैं। उनका नाम था जुनेजा। एक बार जुनेजा घूमने के लिए जंगल में गये। उन्होंने देखा, एक फकीर रो रहा है। बुरी तरह रो रहा है। संत का मन पसीजा, उसके पास गए और बोले 'तुम क्यों रो रहे हो ? वह बोला—क्या बताऊं, कोई कारण है। संत ने कहा बताओ, क्या कारण है ? हो सकता है कि मैं तुम्हे कोई समाधान दे सकूं। उसने कहा—क्या बताऊं, मैं परमेश्वर से मिलने के लिए निकला। पर अभी तक मुझे वह मिला ही नहीं।' संत ने कहा 'रोने से नहीं मिलेगा। तुम कुछ अभ्यास करो, साधना करो। मार्ग बता देता हूं।' फकीर वापस जाने लगे तो संत जुनेजा ने कहा 'मैं भी जा रहा हूं। संत ने कहा—फिर कोई तुम्हारे सामने चिन्ता की कोई बात आ जाए तो बगदाद में आ जाना और मुझसे समाधान ले लेना। वह बोला, मुझे कोई जरूरत नहीं है आपके पास आने की। मैं क्यों आऊंगा आपके पास ! मैं चिन्ता करता ही नहीं हूं। मुझे इस बात का विश्वास है कि मैं जब जब कुछ जानना चाहूंगा तो परमात्मा अपने आप भेज देगा। आज भी आपको मैंने बुलाया था क्या ? मैंने तो आपको नहीं बुलाया था। आप अपने आप मेरी समस्या का समाधान करने के लिए आ गए। ऐसे ही फिर कभी कोई समस्या आएगी तो कोई न कोई अपने आप आ ही जाएगा। मुझे आपके पास आने की कोई जरूरत ही नही है।

जो आदमी अपने भरोसे पर होता है, विश्वस्त होता है, तनाव से मुक्त रहता है, वास्तव में वह अकेला होता है। चिन्ता से ग्रस्त रहने वाला कभी अकेला नहीं हो सकता। अकेला होना कितना कठिन होता है और अकेला होना कितना समाधान है! जहां कोई चिन्ता नहीं, जहां कोई भय नहीं, कोई तनाव नहीं है, वहां कितनी सुख की स्थिति है और कितनी आनंद की स्थिति है! हमारे आनंद को और सुख को लीलने वाले तत्त्व दो हैं—भय और चिन्ता। कितना भी पास में पैसा हो भय आया तो आनंद काफूर। कितनी ही पास में संपदा हो मन में भय जागा और सब कुछ समाप्त। भय भाधन है तनाव से आदमी भरा और सब कुछ समाप्त। हर व्यक्ति अपने आपका विश्लेषण करे कि कितना भय है जीवन में, कितना तनाव और कितनी चिन्ताएं हैं जीवन में। ऐसा व्यक्ति कौन मिलेगा जो अभय और चिन्तामुक्त हो और जो ऐसा होता है वह सचमुच दूसरे के लिए परमात्म-स्वरूप ही होता है, एक आदर्श होता है। ऐसे व्यक्ति की जरूरत है जो इस प्रकार का जीवन जीए। बहुत कठिन बात है इस प्रकार का जीवन जीना और वह व्यक्ति इस प्रकार का जीवन जी नहीं सकता जो अकेले होने की कुंजी को नहीं जानता।

अकेला वह हो सकता है जो मुक्त है, अनासक्त है, यानी पदार्थ को भोगता है किन्तु पदार्थ से दबता नहीं है। पदार्थ आदमी को बांधता है। सब बंधे हुए हैं पदार्थ से। पदार्थ को भोगना और काम में लेना एक बात है और पदार्थ से बंध जाना बिलकुल दूसरी बात है।

आजकल एक संस्कृति का विकास हुआ है। कुछ विचारकों ने और गहरे चिन्तकों ने नई संस्कृति को जन्म देने का प्रयत्न किया है। उस संस्कृति का नाम है अपरिग्रह की संस्कृति, 'थ्रो अवे' की संस्कृति। इस पर बहुत साहित्य निकला है और बहुत चिन्तन हुआ है। यानि काम में लो और फेंक दो। थ्रो अवे—यह आज की नई संस्कृति पनप रही है और यह बहुत पुरानी है अपरिग्रह की संस्कृति। काम में लिया और फेंका। कितना इकट्ठा करोगे? अपने पास जमा करके मत रखो।

संग्रह की मनोवृत्ति बांधती है आदमी को। मुक्त होना आदमी जानता ही नहीं है। और जो मुक्त होना नहीं जानता वह अकेला होना नहीं जानता। सबसे बड़ा समाधान और सबसे बड़ी आनंदानुभूति उसी को उपलब्ध होती है जो अकेला होना जानता है।

अध्यात्म का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है—अकेला होना। आदमी जानता है कि वह अकेला जन्म लेता है और अकेला मरता है। वह इस सचाई को जानता है। बीच का सारा जीवन भीड़ में बीतता है, किन्तु भीड के कारण वह सत्य से परे चला जाता है और अकेलेपन की परिस्थिति को बिसार देता है। उसे याद ही नहीं रहता कि मैं अकेला आया हूं। उसे याद ही नहीं रहता कि मुझे अकेला जाना है। यह भीड़ इतनी मूर्च्छा पैदा कर देती है कि दुनिया की महानतम सचाई, अकेलेपन की अनुभूति जो है, वह छूट जाती है और भीड में उलझ जाती है।

अध्यात्म या धर्म के पास यदि कोई सबसे बड़ा समाधान का सूत्र है तो वह है एकत्व की अनुभूति, अकेलेपन की अनुभूति। समाज मे, भीड़ में जीते हुए भी अकेलेपन की अनुभूति करते रहने की क्षमता, सबसे बड़ा समाधान है।

भगवान् महावीर ने सचाई का जीवन जीने के लिए अनुप्रेक्षाओं का बोध दिया। बारह अनुप्रेक्षाएं हैं। ये अनुप्रेक्षाएं मूर्च्छा के चक्र को तोड़ने वाली हैं। जहां जहा व्यक्ति में मूर्च्छा आती है, अनुप्रेक्षा का प्रयोग करने से मूर्च्छा का चक्र टूट जाता है। जो व्यक्ति अनुप्रेक्षा नही करता, मूर्च्छा सघन होती चली जाती है। मूर्च्छित आदमी का निर्णय उसे असत्य की ओर ले जाता है। यह बहुत तेज धार है अनुप्रेक्षा की जो चक्र को बढ़ने नही देती। उन बारह अनुप्रेक्षाओं में एक अनुप्रेक्षा है अकेलेपन का बोध, अकेलेपन की अनुभूति। अकेला वह होता है जिसमें ममत्व नही है, ममकार—मेरापन नहीं है। व्यवहार की बात तो ठीक है। व्यवहार मे तो आदमी बोलता है कि यह मेरा है, यह मेरा है। किन्तु यह सचाई नहीं है। हम व्यवहार को व्यवहार के जीवन तक ही रहने दें और सचाई का जीवन भी साथ में जीएं। जो आदमी कोरा व्यवहार का जीवन जीता है वह अपने लिए सदा सिरदर्द पैदा करता है। सिरदर्द को वही मिटा सकता है जो व्यवहार के साथ सचाई का जीवन भी जीता है। हमें दोनों प्रकार का जीवन जीना चाहिए। व्यवहार का जीवन तो इसलिए कि हम उसके बिना अपनी आवश्यकताओं को पूरी नहीं कर सकते, अपने लिए जीने का साधन नहीं जुटा सकते। इसलिए व्यवहार का जीवन जीना, भीड़ का जीवन जीना हमारे लिए बहुत जरूरी है। सामाजिक जीवन जीना हमारे लिए बहुत जरूरी है। यदि हम सचाई का जीवन नहीं जीते है तो वह व्यवहार, वह समाज और वह भीड़

हमारे लिए नित नए सिरदर्द पैदा कर देती है । दोनों प्रकार का जीवन जीना आवश्यक है । व्यवहार का जीवन जीते हुए जो सचाई का जीवन है उसकी पृष्ठभूमि बनाए रखना अपेक्षित है । आगे व्यवहार रहे और पृष्ठ-भूमि में सचाई रहे । व्यवहार रहे, सचाई रहे और दोनों साथ-साथ चलें तो हमारे जीवन की यात्रा भी ठीक चलेगी और हमारे लिए सिरदर्द भी पैदा नहीं होगा ।

जिस व्यक्ति ने अपना परिवार बनाया, अपने लिए एक सुविधा की सीमा बनाई, कोई बड़ी बात नहीं और इसे कोई बुरा भी नहीं कहा जा सकता । परिवार बनाना व्यक्ति के लिए जरूरी है किन्तु परिवार को अंतिम सचाई मान लिया और यह मान लिया कि मेरा त्राण, मेरी सुरक्षा कहीं है तो यह परिवार है । उस व्यक्ति को कितना धोखा होता है, वह जानने वाले जानते है । वह स्वयं अनुभव करेगा, एक दिन धोखा खाना पड़ेगा । और यदि वह इस सचाई को बराबर मानता रहता है कि सुविधा के लिए परिवार बनाया है किन्तु अंतिम सचाई यह है कि वस्तुतः मैं अकेला हूं । ऐसे व्यक्ति को कभी धोखा नहीं होगा । हमारे पास बहुत सारी ऐसी घटनाएं आती हैं । लोग कहते हैं कि मुझे भाई ने धोखा दे दिया । कोई कहता है कि मेरे पिता ने मुझे धोखा दे दिया । कोई कहता है कि मेरे लड़के ने मुझे धोखा दे दिया । कोई कहता है कि मेरी पत्नी ने मुझे धोखा दे दिया । कोई कहती है कि मेरे पति ने मुझे धोखा दे दिया । कोई धोखा देने वाला नहीं है । तुमने स्वयं अपने आप में धोखा खाया है, दूसरे को तो मात्र निमित्त बना रहे हो । दूसरा कौन होता है, धोखा देने वाला । तुमने झूठ को पाला, सत्य को अस्वीकार किया, इसलिए धोखा हो रहा है । सचाई को बराबर ध्यान में रखते तो कभी धोखा हो ही नहीं सकता । इस बात को बराबर जानते रहते कि दुनिया का यह स्वभाव है कि जब तक स्वार्थ नहीं टकराते, सब अपने हैं और जब स्वार्थ का टकराव होता है तब न भाई अपना होता, न बाप अपना होता और न बेटा, न पति अपना होता और न पत्नी अपनी होती । कोई किसी का नहीं होता । यह स्वार्थों का संघर्ष, स्वार्थों का टकराव किसी को अपना रहने नहीं देता । सचाई को भुलाकर सबको अपना लिया, इसी गलत मान्यता ने तुम्हें धोखा दिया है, किसी भी व्यक्ति ने तुम्हें धोखा नहीं दिया है । यह धारणा स्पष्ट रहेगी तो तुम्हें कभी कष्ट का अनुभव नहीं होगा । अगर कोई धोखे का अनुभव होता है तो सीधा सूत्र है कि दुनिया का

स्वभाव है, ऐसा होता है। बात समाप्त हो जाती है। यदि ऐसा नहीं होता है तो शिकायत और शिकायत। उसका तांता टूटता ही नहीं है।

एक भाई आकर बोला, मेरे पिता ने मुझे निकाल दिया, कुछ भी नहीं दिया। क्या नई बात है ! एक भाई आकर बोला, मां ने घर से निकाल दिया। पसंद ही नहीं करती, मुझे चाहती ही नहीं है। क्या नई बात है ! दुनिया का स्वभाव है। यह उसको बताया तो उसे समाधान मिल गया, वह बहुत उलझ रहा था, सुलझ गया। यह तो दुनिया का सिद्धांत है, कौन-सी इतिहास की नई घटना है, इतिहास भरा पड़ा है इन बातों से, तुम क्यों इतनी चिन्ता करते हो ? उसे समाधान मिल गया। यह सचाई है और यह सचाई हमारे समाधान की बात है।

हम प्रेक्षा ध्यान के द्वारा यदि अकेलेपन की अनुभूति के योग्य बन जाएं तो ईश्वर दूर नहीं है। यह योग्यता न आए तो ईश्वर कभी पास नहीं होगा, कभी साक्षात्कार की बात नहीं होगी।

एक बड़ा बरगद का पेड़। उसके नीचे तीन आदमी बैठे थे। बातचीत चल पड़ी, बोले, प्रार्थना का समय है, प्रार्थना करें। प्रार्थना में बैठते समय फिर बोले कि आज प्रार्थना में मांगें क्या ? एक ने कहा जंगल में बैठे हैं, बल की आवश्यकता है, हम बल मांग लें। प्रभु की कृपा हो तो हमें बल मिले, शक्ति मिले। दूसरा बोला, कि बल तो हमारे शरीर में है। हम कमजोर नहीं हैं। बुद्धि मांगें, वह सबसे बड़ा बल होता है। जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल भी है। बुद्धिहीन आदमी के पास बल होगा तो भी वह क्या करेगा। तो बुद्धि मांग लें। तीसरा बोला, बुद्धि से भी क्या होगा ? जब तक श्रद्धा नहीं होगी तब तक कुछ भी नहीं होगा। हम तो श्रद्धा का ही वरदान मांग लें। इतने में ही बरगद में से एक आवाज आई कि क्यों विवाद करते हो ? क्यों लड़ते हो ? पहले मांगने के योग्य तो बनो। यह झगड़ा छोड़ो।'

पहले योग्य बनने की जरूरत है। अकेले होने की जरूरत है कि हम अकेले होने की योग्यता प्राप्त करें, अर्हता पैदा करें कि हम भीड़ में रहते हुए भी, समाज में रहते हुए भी करोड़ों-करोड़ों आदमियों के बीच में रहते हुए भी अपने अकेलेपन को न भूलें। उनके बीच रहते हुए भी अकेले रह सकें। यदि यह अर्हता प्राप्त होती है तो प्रेक्षा ध्यान का प्रयोग बहुत सार्थक हो जाता है।

'मैं ईश्वर हूं'—यह भ्रम भी हो सकता है और वास्तविकता भी हो

सकती है। जो केवल शास्त्रों की दुहाई देता है, पुस्तकें पढ़कर किसी पाठ को दोहराता है, तो वह उसका भ्रम है। यदि वास्तव में वह किसी अभ्यास या प्रयोग के द्वारा अपने ब्रह्मत्व या ईश्वरत्व की अनुभूति करता है तो 'मैं ब्रह्म हूं', 'मैं ईश्वर हूं' वह अनुभूति के स्वर में बोलता है। अनुभूति के स्वर में किसी बात को कहना एक वास्तविकता है और केवल पुनरावृत्ति करना, रटीरटाई बात बोलना, वह उसका भ्रम है।

मैत्री : रोग के साथ

पूछा गया, बदलता कौन है ? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—'अस्थिर बदलता है, स्थिर नहीं बदलता। पदार्थ में दो गुण होते हैं। एक अस्थिर और दूसरा स्थिर। स्थिर केन्द्र में रहता है और अस्थिर परिधि में। प्रत्येक पदार्थ का मूल स्थिर है। उसके आसपास बदलाव होता रहता है। नाना परिवर्तनों में जो अपरिवर्तित रहता है वह अकेला है। आत्मा अकेली है, वह स्थिर है। आत्माएं बदलती रहती हैं। कषाय आत्मा—आवेश बदलते रहते हैं। कभी क्रोध, कभी अहंकार, कभी कपट, कभी लोभ, कभी भय, कभी हास्य और कभी काम-वासना। ये स्थिर नही रहते, बदलते रहते हैं, किन्तु इन सभी के बीच एक ऐसा तत्त्व है जो कभी नही बदलता।

चंचलता बदलती रहती है। कभी मन चंचल, कभी वाणी चंचल, कभी शरीर चंचल। ये सब आत्माएं एक मूल आत्मा के आसपास होने वाले परिवर्तन की आत्माएं हैं। इन नाना रूपों में जो अपरिवर्तित रहने वाला है उसे समझने वाला ही वास्तव में अकेला हो सकता है, अनेक के बीच रहने वाला अकेला। जो नाना अवस्थाओं का अनुभव करता है पर अपने अकेलेपन की विस्मृति नहीं करता। जो अकेला होता है वही दूसरे के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है। शरीर में नाना प्रकार की अवस्थाएं आती हैं। आदमी बीमार होता है। बूढ़ा होता है। कभी दुःखी होता है और कभी सुखी। नाना प्रकार की अवस्थाएं आती हैं। उन अवस्थाओं के साथ मैत्री स्थापित करना एक बहुत बड़ा सत्य है। उस सत्य को वही पकड़ पाता है जो वास्तव में अकेला होता है। अकेला व्यक्ति पीड़ा के साथ और रोग के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है।

तीन दुःख बतलाए गए हैं—रोग, बुढ़ापा और मौत। चौथा है—जन्म। पर उसकी अनुभूति नही होती। आदमी को अनुभूति होती है रोग के दुःख की। भला दुःख के साथ मैत्री कैसे स्थापित हो सकती है ? दुःख आने पर आदमी बेचैन होता है। आर्तध्यान का एक लक्षण है रोग आने पर दुःखी होना। सामान्यतः हर आदमी को रोग आता है, पीड़ा होती है। तब वह

आर्तध्यान में चला जाता है। रोता है, बिलखता है, चिल्लाता है और क्रन्दन करता है। और कभी-कभी तो इतना विलाप करता है कि घरवालों को ही नहीं, पास-पड़ोस को भी जगा देता है। नींद हराम कर देता है। यह एक अवस्था है कि आदमी की बीमारी के साथ एक पीड़ा उतरती है। अरति का होना, पीड़ा का होना और बीमारी का होना जैसे एक गठबंधन हो गया। बीमारी आई और साथ-साथ में पीड़ा भी आ गई, कष्टानुभूति भी आ गई।

धर्म के क्षेत्र में एक सत्य खोजा गया, जिससे बीमारी की अवस्था में भी आदमी बिल्कुल आनंद में रह सकता है, शांत रह सकता है, समता में रह सकता है और सुख का अनुभव कर सकता है। इधर पीड़ा और उधर वह सुख का अनुभव करे, यह एक बहुत विचित्र खोज है। वर्तमान में भी आज के वैज्ञानिक इस खोज में लगे हुए हैं कि पीड़ा को कैसे बदला जाए? पीड़ा की अनुभूति को कैसे बदला जाए? पीड़ा-शामक औषधियां दी जाती हैं तो पीड़ा कम हो जाती है। इससे पीड़ा की अनुभूति कम हो जाती है। सिर में दर्द उठा और डाक्टर के पास गया और उसने गोलियां दी तो दर्द शांत हो जाता है। मादक दवा ली, अफीम से बनने वाली गोलियां लीं, दर्द शांत हो गया, दर्द मिट गया। प्रतिवर्ष अरबों-अरबों रुपयों की औषधियां बाजार में बिक रही हैं। और बहुत सारे लोग सिरदर्द, पेटदर्द, जोड़ों का दर्द, संधिदर्द, घुटनों का दर्द—इन सब दर्दों को मिटाने के लिए गोलियां खाते रहते हैं।

यह खोज चिकित्सा के क्षेत्र में भी चल रही है और धर्म के क्षेत्र में भी चली। अगर धर्म पीड़ा न मिटाए तो धर्म की व्यर्थता हो जाए। धर्म के द्वारा पीड़ा का शमन भी होना चाहिए। यदि धार्मिक आदमी को पीड़ा के समय केवल डाक्टर की शरण लेनी पड़े और कोई उपाय न हो तो एक चिन्तन का प्रश्न बन जाता है।

चिकित्सा की अनेक पद्धतियां विकसित हुईं दर्द को मिटाने के लिए और रोग को शान्त करने के लिए। एक पद्धति उसके साथ मैत्री स्थापित करने की थी कि रोग के आने पर डरो मत, उसके साथ मैत्री स्थापित करो। आया है। आने वाला अतिथि है। अतिथि का स्वागत किया जाता है, स्थान दिया जाता है। डरने की जरूरत नहीं। उसने अपने आप स्थान बना लिया है। अब उसका स्वागत करो। यह बहुत बड़ी बात है। रोग का स्वागत कैसे किया जा सकता है? इसका एक सूत्र है—निर्जरा। यह सोचो कि जो आया है वह कष्ट देगा। कष्ट होगा, पर साथ-साथ निर्जरा होगी, विशुद्धि होगी, ऋण

चुकेगा। जो कर्जा किया हुआ है वह चुक जाएगा। सारा दृष्टिकोण बदल जाता है। जब हमारा उसके साथ मैत्री की स्थापना का दृष्टिकोण बन गया तो पीड़ा नही देगा। अच्छा है आ गया, क्या बुरा करने वाला है ? एक वह आता है जो कि आते समय बहुत अच्छा लगता है और जाते समय बहुत बुरा लगता है। आता है तो बड़ा आकर्षक होता है और जाता है तो बड़ा दुःख देकर जाता है। रोग आते समय बहुत अच्छा नही लगता, पर जाते समय बहुत अच्छा लगता है। इतनी सफाई कर जाएगा, इतनी विशुद्धि कर जाएगा, इतना अच्छा परिणाम देगा, ऐसा लगेगा कि भले ही आया है।

प्राकृतिक चिकित्सा वाले मानते हैं कि ज्वर आता है वह शरीर की शुद्धि के लिए आता है। शरीर में बहुत सारा विष संचित हो जाता है। इसको मिटाने के लिए ज्वर आता है। अब जो विष को निकालने के लिए ज्वर आया, उसे क्या मानेंगे ? शत्रु मानेंगे या मित्र मानेंगे ? कष्ट देने वाला कोई शत्रु नहीं होता। त्राण देने वाला कोई मित्र नहीं होता। शत्रु और मित्र की पहचान उससे होती है कि पीछे क्या छोड़ा। एक आदमी मिठाई खाता है। मिठाई खाने में अच्छी लगती है पर खाने के बाद पेट खराब हो जाता है। इसे क्या मानेंगे ? अच्छा मानेंगे या बुरा मानेंगे ? हाजमा कमजोर और दाल का मिरा खा लिया। अच्छा तो लगा खाते समय, पर क्या मानेंगे ? अच्छा मानेंगे या बुरा मानेंगे ? कैसे मित्र मानेंगे ? अच्छा नही मानेंगे, बुरा मानेंगे। जो अच्छा लगता है वह मित्र होता है, प्रिय ही होता है और अच्छा ही लगता है, यह हमारी भ्रांति ही होगी। और जो बुरा लगता है वह अहितकर होगा, यह भी हमारी भ्रांति होगी। जो अपने चले जाने के बाद अच्छाई छोड़ जाता है, वह हमारे लिए कल्याणकारी मित्र होता है और जो जाने के बाद हमारे लिए बुराई छोड़ जाता है, वह हमारे लिए शत्रु का काम करता है।

रोग आता है। पीछे कुछ छोड़ जाता है। यदि वास्तव में उसे मित्र की दृष्टि से देखें, उसके साथ मैत्री स्थापित करें तो कल्याण छोड़ जाएगा, बुराई नही छोड़ेगा।

जयाचार्य ने एक ग्रन्थ लिखा। उसका नाम है "आराधना"। उन्होंने उसमे रोग के साथ मैत्री करने का बहुत सुन्दर मन्त्र दिया है। कष्ट आया है तो मैं उसे प्रीति के साथ सहन करूं। उसके साथ प्रेम करूं। विरोध न करूं। लड़ूं नही। यदि वह लड़ने लग जाएगा तो आर्तध्यान में चला जाएगा।

मैत्री करने की भी एक विकसित प्रणाली है। आज के मनोवैज्ञानिक बता रहे हैं कि हम दस-बीस वर्षों में ऐसी मानसिक प्रक्रिया खोज लेंगे कि बीमार को, दर्दी को ऐसा प्रशिक्षण देंगे कि वह बिना दवा के दर्द को सहन कर सके। किसी दवा की आवश्यकता नहीं होगी। एक हमारी शारीरिक प्रणाली है। उसमें पीड़ा को सहन करने की क्षमता है। उसमें पीड़ा-शामक रसायन बनते हैं। एक ऐसा रसायन है। ऊपर से जो दवाइयां ली जाती हैं वे भी पीड़ा का शमन करती हैं। किन्तु जो तीसरी बात है मानसिक क्रिया, उसके द्वारा यदि पीड़ा का शमन कर दिया जाए तो यह है रोग के साथ मैत्री करने का प्रयत्न। उसका एक कारण है—भय, चिन्ता और तनाव से मुक्ति।

आदमी घबड़ा जाता है, भयभीत होता है, चिन्ता में डूब जाता है। तनाव से ग्रस्त हो जाता है। पांच प्रतिशत पीड़ा को पचास प्रतिशत अनुभव करता है। अभय का विकास करें, चिन्ता मुक्त रहें, तनाव से मुक्त रहें तो पचास प्रतिशत पीड़ा पांच प्रतिशत जितनी भी अनुभव नहीं होगी। पीड़ा की अनुभूति सबको समान नहीं होती। एक व्यक्ति को भी समान नहीं होती। भय और चिन्ता के साथ पीड़ा बढ़ जाती है और अभय व निश्चिन्तता की स्थिति में पीड़ा कम हो जाती है। कुछ लोग बहुत डरपोक होते हैं। पैर में थोड़ा सा कांटा चुभ गया तो इतने डर जाते हैं कि मानो कोई वज्र का प्रहार ही हो गया हो। वे कराहने लग जाते हैं। कुछ लोग भय-मुक्त होते हैं। कोई शस्त्र का प्रहार भी लग जाता है तो उफ तक नहीं करते, उन्हें पीड़ा का अनुभव तक नहीं होता। हमारी भावात्मक और मानसिक स्थितियां पीड़ा के होने और न होने में निमित्त बनती हैं।

अभय का विकास करना रोग के साथ मैत्री स्थापित करना है। अभय का विकास करना पीड़ा के साथ मैत्री स्थापित करना है। चिन्ता और तनाव से मुक्त होना पीड़ा के साथ मैत्री स्थापित करना है। हमने देखा है कुछ लोगों को, जिनके शरीर में भयंकर पीड़ा है, किन्तु उन्होंने अपनी आस्था को जगाया। आस्था का केन्द्र बना लिया और पीड़ा शान्त हो
विश्वास पीड़ा के साथ मैत्री करने का एक सूत्र है।

भावना के परिवर्तन से आदमी में
का चमत्कार नहीं होता। भावना का चमत्कार
बदल जाता है। हम इस सत्य को और
भावना के साथ हमारे रसायन बदलते हैं।

का सारा व्यवहार बदल जाता है। इसमें विश्वास और आस्था बहुत बड़ा काम करती है। न जाने कितने लोग संतो के पैरो की धूली को ले जाते हैं। वड़ा काम देती है, और भयंकर बीमारियां मिट जाती है। तो क्या यह रेत का चमत्कार है ? धूलि का चमत्कार है ? नहीं, यह भावना का चमत्कार है, विश्वास और आस्था का चमत्कार है। आस्था बनी, विश्वास बना, भावना बदली और वैसे ही परिवर्तन शुरू हो जाता है।

यह पीड़ा के साथ मैत्री स्थापित करने का एक उपाय है, एक प्रयत्न है। मानसिक क्रिया का एक बहुत बड़ा अंग है संकल्प का बल। संकल्प के द्वारा मैत्री स्थापित की जा सकती है। अनाथि की बात सुनी होगी। राजगृह का एक श्रेष्ठी परिवार, बहुत धनी। इकलौता लड़का। नाम था अनाथि। विवाहित। सब कुछ पास में। एक दिन आंख मे भयंकर पीड़ा उठी—चक्षुःशूल। वैद्यों को बुलाया और इलाज करवाया, कोई लाभ नही हुआ। अब अनाथि के मन में एक विकल्प उठा कि मेरे पिता ने, मेरी माता ने, मेरे लिए इतना किया और इतना धन बहाया फिर भी मुझे पीड़ा-मुक्त नही कर सके। मेरे भाइयो ने, मेरे सगे-संबंधियों ने मेरे लिए इतना किया फिर भी मैं पीड़ा-मुक्त नही हो पाया। मेरी पत्नी भीगी आंखों से मेरे पास बैठी रहती, सेवा करती फिर भी मुझे पीड़ा-मुक्त नही कर सकी। कोई कुछ भी नहीं कर सका। मैं पीड़ा भोगता रहा। इधर सब उपचार में लगे है और मैं पीड़ा में लगा हूं, क्या यह यों ही चलेगा ? मैं पीड़ा ही भोगता रहूंगा ? नहीं, मुझे बदलना है। मन में एक संकल्प आया, विकल्प के बाद संकल्प कि यदि मैं पीड़ा से मुक्त हो जाऊं तो मैं मुनि बन जाऊं। संकल्प के साथ सोए। भयंकर पीड़ा थी। नींद आ ही नही रही थी। नींद आ गई। उठे तो पीड़ा बिल्कुल शान्त। जैसे कोई दर्द हुआ ही नही। अब अनाथि मुनि बन गए। यह है संकल्प का प्रयोग। संकल्प के द्वारा आदमी रोग के साथ मैत्री स्थापित करता है और पीड़ा को बिल्कुल शान्त कर देता है।

जीवन में अनेक स्थितियां आती हैं, विषमताएं आती हैं। यदि हम आन्तरिक शक्तियों का उपयोग करें, अपने भीतर की शक्तियों का उपयोग करें तो बहुत विषमताओं को कम किया जा सकता है। किन्तु आदमी का दृष्टि-कोण केवल बहिर्मुखी बना हुआ है। वह हर समस्या के मूल को बाहर ही खोजता है और हर समाधान बाहर ही ढूंढता है। भीतर में समाधान खोजता ही नहीं है। यह एकांगीपन आदमी को ज्यादा संकट में डाले हुए है। यदि

आदमी सर्वांगीण बन जाए, बाहर में खोजता है, पर भीतर में भी समाधान खोजने लग जाए, इससे बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है । पहले चिकित्सक बाहर में ही समाधान खोजते थे, किन्तु बाद में भीतर में भी समाधान खोजा जाने लगा । इससे मानसिक चिकित्सा, आध्यात्मिक चिकित्सा और संकल्प चिकित्सा का विकास हुआ, ध्वनि चिकित्सा का विकास हुआ । भीतर की अनेक चिकित्साओं का विकास हुआ । उन्हें लगा कि भीतर में समाधान है । उसे खोजा जा सकता है । आज के वैज्ञानिक इस बात मे बहुत आगे बढ़ गए। रसायनों की जब खोज चली है, बायोकेमिस्ट्री का विकास हुआ है और जैविक रसायनों पर जब ध्यान केन्द्रित हुआ है तो इस विषय में और प्रगति हो गई कि भीतर में हजारों हजारों प्रकार के रसायन बनते हैं । वे रसायन हमारी सहायता करते हैं । ये आन्तरिक रसायनो को जानने की प्रक्रिया एक प्रकार से आध्यात्मिक चिकित्सा की प्रक्रिया है । धर्म के लोगों ने बहुत पहले ही खोज लिया था कि भाव प्रक्रिया के द्वारा रसायनों को बदला जा सकता है । उन्होंने विश्वास का, आस्था का और संकल्प का प्रयोग किया और सहिष्णुता का प्रयोग किया । एक बहुत बड़ी शक्ति है रोग के साथ मैत्री स्थापित करने की, सहन करने की शक्ति । जो आदमी सहन करने की शक्ति को बढ़ा लेता है वह रोग के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है चक्रवर्ती सनत्कुमार का वे रोग के साथ मैत्री स्थापित कर रोग को अपने शरीर में स्थान देते हैं—'तुम भी रहो और मैं भी रह रहा हू । दोनों साथ-साथ रह रहे हैं । कोई समस्या नहीं, कोई उलझन नही । दोनों बराबर चल रहे हैं ।'

चक्रवर्ती सनत्कुमार अत्यन्त सुन्दर थे । सौन्दर्य के अहंकार ने उनके शरीर को रोग-ग्रस्त कर डाला । रोग का भान हुआ । वे संभले । मुनि बन गए । साधना की । अनेक सिद्धियां प्राप्त हुईं । सिद्धि का प्रयोग कर वे रोग-मुक्त हो सकते थे । पर रोग के साथ मैत्री कर रहने में ही उन्हें आनन्द आ रहा था । वे रोग को भोगते रहे, पर अपने आनन्द को कभी खंडित नहीं किया ।

यह है बीमारी के साथ मैत्री का प्रयोग, मैत्री की स्थापना । चाहते तो कभी की बीमारी को समाप्त कर सकते थे । पर मित्र की तरह उसको स्थान दिए हुए थे । मित्र की तरह कि दोनों साथ-साथ बैठे हुए थे । किसीको उठने की जरूरत नहीं है । यह कब संभव है, जब अकेलेपन का अनुभव किया जा सके । रोग में रहने पर भी अरोग का अनुभव हो जाए । रोग

शरीर को घेरे हुए है, किन्तु उसके भीतर में एक अरोग आत्मा बैठा हुआ है। वह चैतन्यमय है। उसके रोग नहीं होता। वह परमात्मा उसके भीतर बैठा है। उस अरोग का अनुभव हो जाए तो रोग के साथ मैत्री स्थापित की जा सकती है। जब तक उस अरोग का अनुभव नहीं होता, कभी मैत्री स्थापित नहीं की जा सकती।

यह ध्यान का प्रयत्न उस अरोग को पकड़ने का प्रयत्न है। जो सदा शाश्वत अरोग है, कभी बीमार नहीं होता, उसे पकड़ने का प्रयत्न है। वहां कैसे पहुंचे ? वह बहुत भीतर में बैठा है। इतना भीतर है, इतनी गहराई है कि जितनी गहराई समुद्र की भी नहीं है। समुद्र की गहराई तो बहुत थोड़ी है। पर उसकी इतनी ज्यादा गहराई है कि वहां तक पहुंचना बहुत मुश्किल है। वहां वही पहुंच पाता है जो ध्यान की साधना में लग जाता है।

ध्यान का मतलब है बाहर से संपर्क तोड़कर भीतर की गहराई में डुबकी लगाना। जब तक बाहर से संपर्क बना रहता है आदमी भीतर की गहराई में जा ही नहीं पाता। बाहर में बड़ी खींचातानी रहती है। कोई इधर खींचता है और कोई उधर खींचता है। कभी शब्द खींचता है, कभी रूप खींचता है, कभी स्वाद खींचता है। पूरी खींचातानी लगी हुई है।

अब हम सभी झंझटों से मुक्त होकर भीतर के जगत् में जाएं जहां खींचातानी नहीं है। उसकी एक अलग ही दुनियां है। उस दुनियां में प्रवेश करना, इसीका नाम है—ध्यान। खींचातानी से मुक्त होकर अन्दर में चले जाएं, भीतर का अनुभव करें और उस गहराई में डुबकी लगाएं। यह स्थिति जब प्राप्त होती है तभी आदमी दूसरे के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है। यदि अपना अच्छा करने वाले के साथ मैत्री स्थापित करें तो क्या उसे मैत्री कहा जाए ? नहीं, उसे स्वार्थ कहा जाएगा। जो सामने हित साध रहा है उसके साथ यदि कोई मैत्री करे तो वह तो स्वार्थ की बात हुई। मैत्री वह नहीं होती। मैत्री वह होती है कि सामने वाला चाहे अच्छा करता है या बुरा करता है, चोट पहुंचाता है या लाभ करता है, सबके साथ मैत्री। मैत्री होती है तो सबके साथ होती है। और नहीं होती है तो किसी के साथ नहीं होती। यह मैत्री का सिद्धान्त है। तो भला, रोग के साथ मैत्री क्यों नहीं होगी ! जिन लोगों ने रोग के साथ मैत्री स्थापित की, उन्होंने सचमुच रोग को विफल बना दिया। शत्रुता स्थापित कर आप उसे कभी निष्फल नहीं बना सकते। आप मैत्री स्थापित करें, रोग निकम्मा बन जाएगा। आया था

आपको सताने के लिए और हार मानकर पलायन कर गया। रोग सोचता है यह रोगी मेरा लाभ ही नहीं उठा रहा है। रोग का लाभ होता है, चिल्लाना, कराहना। यह होता है तब तो रोग समझता है मेरा यहां आना सफल हुआ। रोग आया, न कोई चिल्लाहट, न कोई कष्ट, तब यह सोचता है कि कहां फंस गया। मेरा तो कोई काम ही नहीं हो रहा है यहां। उसको अपनी व्यर्थता का अनुभव होगा और वह शायद अपने आप जाने की बात सोचेगा।

जयाचार्य ने आराधना में और आराधना की आठवीं ढाल में इसका जो मर्म बतलाया है, वह इतना सुन्दर है कि भयंकर से भयंकर पीड़ा के समय जब वह मंत्र सुनाया जाता है तो न जाने कष्ट कहां चला जाता है, पीड़ा कहां चली जाती है और रोगी एकदम खिल जाता है; पीड़ा के साथ जूझने लग जाता है। उसका जीवन बदल जाता है।

हम अध्यात्म के क्षेत्र में धर्म को केवल रूढ़ि मानकर न चलें। उसे प्रयोगात्मक बनाएं। ऐसे प्रयोग करें, जिससे कि औषधियां, डाक्टर—इनकी शरण हमें लेनी न पड़े। कभी लेना भी पड़े तो वह अंतिम समाधान न रहे। अंतिम समाधान रहे मैत्री। मैत्री का प्रयोग करें, जिससे कि हम भीतर में और बाहर में अपने आपको आश्वस्त रख सकें।

मैत्री : बुढ़ापे के साथ

अध्यापक ने विद्यार्थी से पूछा 'सबसे सरल क्या है जो बिना किए हो जाता है ?' तपाक से विद्यार्थी बोला 'परिक्षा में फेल हो जाना, यह सबसे सरल काम है। इसमें कुछ भी नहीं करना पड़ता।'

सबसे सरल क्या है जो बिना किए होता है ? वह है बुढ़ापा। इसे कोई चाहता नही और इसके लिए कोई प्रयत्न नही करना पड़ता। यह बिना प्रयत्न किए अपने आप आ उतरता है। किसी ने नही चाहा कि बुढ़ापा आए। पर वह आता है, और अपनी गति से आता है। पचास-साठ-सत्तर वर्ष के बाद बुढापा नही आता। बुढ़ापा बीस वर्ष से ही शुरू हो जाता है, बहुत जल्दी ही शुरू होता है। हमे पता ही नही चलता, किन्तु प्रारम्भ बहुत पहले ही हो जाता है।

प्राचीन साहित्य का संदर्भ लें, चाहे आज के वैज्ञानिक विचारणा को लें, अभिमत एक है कि बुढापा बहुत जल्दी प्रारंभ हो जाता है। आचारांग सूत्र का सूक्त है —बुढ़ापा इन्द्रियों के द्वारा आता है। इन्द्रियों की शक्ति का नाम है यौवन और इनकी शक्तियों का क्षीण होना है बुढ़ापा। जब कान की शक्ति, आंख की शक्ति, रस और स्पर्श की शक्ति कम होने लगती है तो बुढ़ापा आ जाता है। इन्द्रियों की शक्ति का कम होना बुढ़ापा है। आज के वैज्ञानिक का भी मत है कि दस वर्ष से ही आंख की शक्ति कम होने लग जाती है और चालीस तक तो काफी कम हो जाती है। कान की शक्ति बीस वर्ष से कम होने लग जाती है। श्वास की शक्ति पचास वर्ष के बाद कम होने लगती है और सूंघने की शक्ति साठ वर्ष के बाद कम होने लगती है। तो बुढापा दस वर्ष से ही शुरू हो गया। यह तो माना जाता है कि मौत पहले क्षण से ही शुरू हो जाती है। जिस क्षण बच्चा जन्मता है उसी क्षण से मरना शुरू हो जाता है। बहुत बार यह बात कही हुई है और सुनी हुई है पर यह बात भी सही है कि चाहे पहले क्षण से मरना शुरू नहीं होता होगा पर दस वर्ष से तो मरना शुरू हो ही जाता है।

बुढ़ापा क्या है ? ऊर्जा का क्षीण होना ही बुढापा है। इन्द्रियों की

शक्ति का क्षीण होना बुढ़ापा है। बुढ़ापे का पहला लक्षण है—अकड़न। धमनियों का अकड़ना, हड्डियों का अकड़ना, रीढ़ की हड्डी का अकड़ना। अकड़न का नाम है बुढ़ापा। रीढ की हड्डी लचीली होती है तब तक बुढ़ापा पूरा उतरता नहीं। रीढ़ की हड्डी कड़ी पड़ जाती है तो बुढ़ापा जल्दी उतर आता है।

न केवल हड्डियों की अकड़न, किन्तु विचारों की अकड़न भी बुढ़ापा ला देती है। जो आदमी बहुत आग्रही होता है, जिद्दी होता है, अपनी बात पर टस से मस नहीं होता, वह भी जल्दी बूढा होता है। अनाग्रह बुढ़ापे को रोकता है और आग्रह बुढ़ापा लाता है। बुढ़ापा वांछनीय नहीं माना गया, दुःख माना गया है। यह भय का कारण है। जो तपस्वी, संन्यासी और मुनि बने उसके पीछे एक दुःख की प्रेरणा रही। तीन-चार दुःख सामने आए—बुढ़ापा दुःख है। बीमारी दुःख है। मरना दुःख है और जन्म लेना भी दुःख है। तो बुढ़ापा एक दुःख है। इसमे कोई सन्देह नहीं। बुढ़ापा सुखद नहीं है, दुःखद है। किन्तु धर्म के लोगों ने एक नई बात खोजी कि दुःख को सुख में बदला जा सकता है। यह जरूरी नहीं कि दुःख को आदमी भोगे। इसे सुख में बदला जा सकता है। यह एक अद्भुत खोज है। कैसे बदला जा सकता है, यह एक प्रश्न है। उसका पहला सूत्र है—अनाग्रह का विकास, अकड़न को मिटाना। अनाग्रह का अर्थ है—बुढ़ापे के साथ मैत्री करना। बुढ़ापे को दुःख में न बदल कर सुख में परिवर्तित कर देना।

एक गृहस्थ ने सोचा, मुझे गुरु बनाना है, किसको बनाऊं ? उसने कुछ लोगों को खोजा, लेकिन पसंद नहीं आये। तब उसकी पत्नी ने कहा 'गुरु की खोज का काम आप मुझे सौंप दें। यह आप से निभेगा नहीं। उसने पत्नी को काम सौंप दिया। पत्नी बड़ी होशियार थी। उसने एक पिंजरा लिया और उसमें कौए को डाल दिया। बड़ा घर था। गांव में जो भी साधु-संन्यासी आते उसके घर भिक्षा के लिए अवश्य आते। एक सन्यासी आया। बड़े आवभगत के साथ उसने भिक्षा दी। फिर उस औरत ने कहा—महाराज ! एक दृष्टि इधर डालें और देखें कि मेरा हंस कितना अच्छा है ?' संन्यासी ने देखा और कहा, 'यह हंस कहा है ? यह तो काला कौआ है।' तब उस औरत ने कहा—'महाराज ! आपकी आंख साफ नहीं है। यह तो मेरा पाला हुआ हंस है।' संन्यासी बड़-बड़ाया और गुस्से में आ गया। फिर वह बोली—'महाराज' ! ठीक है, आप पधारें। दो आये, तीन आये, चार आये और पांच आए। अनेक आये। बस,

वही आवेश और वही जिद्द। न यह मानती और न वे। जो भी आता वह दो-चार गालियां बक देता और चला जाता। गुरु कोई मिला नहीं। एक दिन एक वृद्ध अनुभवी संन्यासी आया। औरत ने फिर वही प्रश्न किया—'महाराज! जरा दृष्टि तो डालें और देखें कि मेरा हंस कितना अच्छा है? संन्यासी ने देखा और कहा, यह तो कौआ है हंस नहीं है, बहिन!' उस औरत ने कहा—'महाराज! आप ध्यान से देखें, आंख को साफ कर देखें, यह तो हंस है मेरा पाला हुआ। संन्यासी ने कहा 'यह हंस तो नहीं है पर कौआ है।' उस औरत ने कहा, 'नहीं, 'महाराज! यह हंस ही है, कौआ नहीं है।' तब उस संन्यासी ने कहा, चलो ठीक है। कोई बात नहीं। अपनी-अपनी दृष्टि होती है। मेरी दृष्टि में कौआ है और तुम्हारी दृष्टि में हंस है। पर एक बात का ध्यान रखना कि आग्रह मत करना, अकड़ना मत, बात को पकड़कर मत बैठ जाना। फिर कभी सोचना और सत्य की खोज के लिए दरवाजे को खुला रखना।' यह कह कर संन्यासी चला गया। वह औरत उसके पीछे दौड़ी और बोली—'महाराज! एक बार आप फिर पधारें"। संन्यासी उनके घर पुनः आए। उसने अपने पति को बुलाया और कहा, ये गुरु बनने के योग्य हैं। इन्हें हम गुरु बनायेंगे।'

जिसमें आग्रह नहीं होता और जो व्यक्ति सत्य की खोज के लिए अपना दरवाजा खुला रखता है, जिसमें अकड़न नहीं होती, वह गुरु बन सकता है। बुढ़ापा भी उसे नहीं सताता जिसमें अकड़न नहीं होती। एक बात जरूर है कि आदमी जैसे-जैसे वृद्ध बनता है उसमें आग्रह ज्यादा आ जाता है, अकड़न ज्यादा आ जाती है। शरीर की अकड़न आती है तो बात की पकड़ भी आती है। वह अपनी बात को छोड़ना नहीं चाहता। दूसरों को कहता है कि तुम क्या जानते हो। तुमने जितना आटा खाया है उतना तो मैंने नमक खा लिया है। यह दुहाई देता है और अपनी बात को मनवाने का प्रयत्न करता है। यह अकड़न ही बुढ़ापा है और यह दुःख देती है।

अनाग्रह एक सूत्र है बुढ़ापे के साथ मैत्री करने का।

बुढ़ापे के साथ मैत्री करने का दूसरा सूत्र है—इन्द्रिय का संयम। इन्द्रिय का जितना असंयम होता है उतना ही जल्दी बुढ़ापा आता है। और जितना जल्दी बुढ़ापा आता है वह उतना ही दुःख देता है। उसका बुढ़ापा बहुत दुःखद बन जाता है।

बुढ़ापे के साथ मैत्री करने का तीसरा सूत्र है—आहार-संयम, परिमित

भोजन। बुढ़ापे का एक कारण है पाचक रसों की कमी। जैसे-जैसे अवस्था बीतती है, पाचक रस कम होने लग जाते हैं। बीस वर्ष की अवस्था तक पाचक रस ठीक होते हैं और तीस तक भी ठीक होते है। उसके बाद पाचक रस कमजोर होने लग जाते हैं, आधा बनने लग जाते हैं। न तो लीवर उतना पाचक रस छोड़ता है, न पेन्क्रियाज ठीक काम करते है, न आमाशय, न पक्वाशय और न आंतें उतना ठीक काम करती हैं। वे घिस जाती है, क्षीण हो जाती है। उस अवस्था में पाचक रस तो कम बनते हैं और खाना और भारी हो जाता है। खाने की चीजें भारी हो गईं तो बुढ़ापा और जल्दी आएगा और आएगा वह भी दुःख देने वाला आएगा। जब कि ४० वर्ष के बाद भोजन में परिवर्तन होना जरूरी है। बुढ़ापे के साथ मैत्री वह करता है जो हर १० वर्ष के बाद अपने आहार को बदल देता है, अपनी चर्या को बदल देता है। आहार का परिवर्तन कि ४० वर्ष के बाद क्या नही खाना चाहिए, ५० वर्ष के बाद क्या नही खाना चाहिए, ६० वर्ष के बाद क्या नही खाना चाहिए। इस प्रकार हर दशक मे अपने भोजन का परिवर्तन करते रहता है वह आदमी बुढ़ापे के साथ मैत्री को निभाता है और उसका पालन करता है। और जो इस बात को नही सोचता कि चालीस वर्ष मे खाता था, साठ वर्ष में और भारी भरकम खाने लग गया और मात्रा भी बढ़ गई और भूख भी बढ़ गई तो वह अत्यन्त हानिकारक होता है और बुढ़ापे को अत्यन्त दु:खद बना देता है। उस अवस्था में उसकी न तो आंतें काम करती हैं, और न खाता है वह पूरा पचता है। अगर रक्त अधिक बनता है तो या तो ब्लड-प्रेशर की बीमारी या पक्षाघात की बीमारी हो जाती है। नसें झेल नही पाती और रक्त ज्यादा बनता है तो कोई न कोई कठिनाई और समस्या पैदा हो जाती है।

बुढ़ापे के साथ मैत्री करने का तीसरा सूत्र है परिमित आहार।

चौथा सूत्र है—तनावमुक्ति। उस व्यक्ति का बुढ़ापा बहुत दु:खद होता है जो तनाव से ग्रस्त रहता है। क्रोध का आवेश, भय का आवेश और काम का आवेश—ये आवेश जितने तीव्र होते हैं उतना ही बुढ़ापा दु:खदायी बनता है। चिन्ताएं भी बहुत रहती हैं। वह चिन्ता-मुक्त रहना नहीं जानता। एक बात और है कि बुढ़ापे मे नियंत्रण की शक्ति भी कमजोर हो जाती है। जवानी में अपने पर कंट्रोल कर सकता है आदमी, उतना बुढ़ापे मे नहीं कर सकता। तो आवेश और प्रबल बन जाते हैं और स्वभाव चिड़चिड़ा बन जाता है। दिन भर किसी को टोकता रहता है और बकवास करता रहता है। गालियां भी बकता

है। बार-बार गुस्सा करता है और उत्तेजना में आ जाता है। नियंत्रणहीन जैसा हो जाता है। यह तनाव की स्थिति ही उसे बहुत दुःख में ले जाती है। लोभ भी बढ़ जाता है। जवान आदमी उतना लोभी नहीं होता, बूढ़ा आदमी और ज्यादा लोभी बन जाता है। आज दहेज की समस्या चल रही है। जवान लड़का, जिसकी शादी हुई है, दहेज के लिए जितना चिन्ताग्रस्त नहीं रहता उतना चिन्तित उसका बूढ़ा दादा या बाप रहता है। अगर लड़का कह भी दे कि दहेज न मिले तो क्या है ? तो वे कहते हैं कि तुम जानते ही नहीं। तुम्हें अभी दुनिया का पता ही नहीं है। यानी सारा पता उनको है। उस बेचारे को पता ही नहीं है। पता है उनको है जिनको कुछ भी लेना-देना नहीं है और परलोक जाने की तैयारी कर रहे हैं। इसका कारण है कि उनमें लोभ है।

एक सूत्र आचार्यश्री ने बहुत पहले समाज को दिया था कि साठ वर्ष के बाद अपने जीवन को बदल देना चाहिए। यानी जिस व्यवसाय और व्यापार में साठ वर्ष तक रह चुके, घर को भरा, परिवार को पाला-पोसा, सब कुछ किया, अब साठ वर्ष के हो गए तो जीवन को बदल देना चाहिए। जीवन की रीति-नीति भी बदल देनी चाहिए। फिर प्रणाली होनी चाहिए आध्यात्मिक। घर से मुक्ति और आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रणाली। यह बहुत सुन्दर बात है। भारत में प्राचीन काल से यह परम्परा चली और जीवन को चार भागों में बांटा—पचीस वर्ष तक शिक्षा, फिर पचीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन और फिर पचास वर्ष के बाद वानप्रस्थ की बात आ जाती है। फिर पचहत्तर के बाद संन्यास की। यह बहुत पुरानी परम्परा है। किन्तु साठ वर्ष के बाद एक निश्चित क्रम बन जाए समाज में कि साठ वर्ष के हो गए अब घर से छुट्टी। अब समाज, अध्यात्म और दूसरे कामों में लगेंगे। अगर जीवन की यह प्रणाली बन जाए तो कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति बुढ़ापे के साथ मैत्री का मार्ग अपना रहा है। उसका रक्तचाप कम होगा। हृदय-रोग कम होगा, हार्ट अटेक कम होगा। बहुत सारी बीमारियां कम हो जाएंगी। ये बीमारियां बहुत व्यस्त और चिन्ता से ग्रस्त रहने के कारण होती हैं। इतना घर का बोझ कि बेचारा लदा-सा रहता है। कभी-कभी तो फाईलें संभालते-संभालते हार्ट के शिकार हो जाते हैं। बहुत तनाव और बहुत व्यस्तता। आदमी सुख के साधन तो बहुत जुटाता है पर सुख से जीना नहीं जानता।

सुख का साधन जुटाता है। हम कहते हैं कि मधुमक्खियां बड़ी मूर्ख हैं जो शहद का संचय करती हैं और खाता कोई दूसरा है। आदमी भी

शायद उससे ज्यादा तो समझदार नहीं है। मधुमक्खी से कम समझदार है। मधुमक्खियां तो जुटाती ही हैं, पर मरती तो नहीं हैं बेमौत। आदमी सुख की सामग्री बहुत जुटाता है पर उसे भोगता कभी नहीं, स्वयं तो पचता-पचता ही मर जाता है। यह एक बड़ी विडम्बना है। वह व्यक्ति जो तनावमुक्त होना जानता है और साथ में चिन्तामुक्त और व्यस्तता से मुक्त होना जानता है, सचमुच वह बुढ़ापे के साथ मैत्री करता है और उसका बुढ़ापा सचमुच सुखद बनता है। बुढ़ापा कोई दुःख नहीं है वास्तव में। बुढ़ापा एक बहुत अच्छी अवस्था है। एक पका हुआ फल है। कच्चा फल खट्टा होता है। जो पक जाता है उसमें मीठास आती है। बुढ़ापा तो जीवन की मीठास है। पचास-साठ और सत्तर वर्ष कार्य करते-करते, देखते-देखते कितनी घटनाएं सुनी, देखीं, जानीं और अनुभव की हुई होती है, उसके बाद जो रस का परिपाक होता है, इतना परिपक्व और प्रौढ़ अनुभव होता है कि बुढ़ापा कभी दुःखदायी नहीं हो सकता। शास्त्रकारों ने कहा कि बुढ़ापा दुःख है। शायद उनका अभिप्राय यही था कि उन लोगों का बुढ़ापा दुःख है जो खाने का संयम नहीं रखते, जो इन्द्रियों का संयम नहीं रखते, जो तनाव से ग्रस्त रहते हैं और जिनमें आग्रह रहता है। किन्तु जो इनसे मुक्त हैं, उनका बुढ़ापा तो बहुत सुखद होता है। और हमने यह देखा कि बुढ़ापे में जो परिपक्व विचार और अनुभूतियां आती हैं वे जवानी में कभी नहीं आ सकतीं। जवानी में एक दूसरा नशा होता है, एक उन्माद होता है, एक आवेश भी होता है, किन्तु बूढ़ा आदमी उन सब से मुक्त हो जाता है और वह और अधिक गहराइयों में जाकर सचाइयों का प्रतिपादन कर सकता है।

बुढ़ापे के साथ वह आदमी मैत्री नहीं कर सकता जो निषेधात्मक भावों में जीता है।

बुढ़ापे के साथ मैत्री करने का पांचवां सूत्र है—विधायकभाव, सृजनात्मक दृष्टिकोण। पोजिटिव ऐटीट्यूट जिसका होता है, वह सचमुच बुढ़ापे के साथ मैत्री कर सकता है। कुछ लोग बहुत निराशावादी होते हैं। वे नकारात्मक भाषा में सोचते हैं और उसी भाषा में बोलते हैं।

एक मैनेजर ने चपरासी से पूछा, अगर मेरे स्थान पर तुम आ जाओ और तुम्हारे स्थान पर मैं चला जाऊं तो बताओ कि तुम पहला काम क्या करोगे? बोला, सबसे पहला काम यही करूंगा कि अपने चपरासी को बदल दूंगा।

हटाने की ओर निषेध की भाषा में सब सोचते हैं। कोई रचनात्मक भाषा में नहीं सोचता। बहुत कम लोग होते हैं जो रचनात्मक दृष्टि से देखते हैं। हम विधायक भाषा में बोलें और सोचें। भय, निराशा, झूठी कल्पना, सन्देह और आवेश—ये हमारे निषेधात्मक भाव हैं। इनमें रहने वाला असमय में ही बूढ़ा बन जाता है। बहुत लोग अकाल में बूढ़े बनते हैं। पाचक रस कम होता है तो आदमी बूढ़ा बनता है। जो आदमी बार-बार क्रोध करेगा उसका पाचक रस बिगड़ जाएगा। जो आदमी भयभीत होगा उसका पाचक रस बिगड़ जाएगा, हृदय की गति बिगड़ जाएगी और फेफड़ा कमजोर हो जाएगा। हमारी शक्ति का बहुत बड़ा साधन है हमारा फेफड़ा। यह जितना मजबूत रहता है आदमी जवान ही रहता है। रीढ की हड्डी और फेफड़ा सारा काम तो यहीं होता है। सारा आक्सीजन यहीं आता है। श्वास यहीं आता है। तो श्वास के कार्य का क्षेत्र है फुफ्फुस। अगर यह कमजोर है तो आक्सीजन नहीं मिलेगा। आक्सीजन पूरा नहीं मिलेगा और प्राणवायु पूरा नहीं मिलेगा तो हर अवयव अपने आप बूढ़ा बन जाएगा। फुफ्फुस, रीढ़ की हड्डी, लीवर, गुर्दा—ये ऐसे अवयव हैं जिनकी शक्ति कम होती है तो आदमी जल्दी बूढ़ा बन जाता है। बड़े दुःख के साथ आदमी रहता है, सुख से नहीं रह सकता। निषेधात्मक भाव इन सबको विकृत बनाते हैं। विधायकभाव प्रेक्षा-ध्यान का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

आज का शरीर-विज्ञान कहता है कि जिसका ग्रन्थितन्त्र जितना स्वस्थ है वह उतना ही जवान है और बुढ़ापे से दूर है। हमारी ग्रन्थियों का बहुत गहरा सम्बन्ध है। ग्रन्थितन्त्र का संतुलन और स्वास्थ्य बुढ़ापे को नहीं आने देता, और आने देता है तो उसे सुखी बना देता है। किन्तु यह आवेश और यह निषेधात्मक भाव ग्रंथितन्त्र को विकृत बना देता है। चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा के सारे प्रयोग ग्रन्थितंत्र को अपने आप स्वस्थ बना देते हैं। हम प्रयोग करते हैं भावात्मक परिवर्तन के लिए और भावों को बदलने के लिए। किन्तु जब भाव बदलते हैं तो भाव परिवर्तन के साथ-साथ ग्रंथियां स्वस्थ भी होती हैं। जिस व्यक्ति की थायराइड ग्रंथि स्वस्थ है, चयापचय की प्रक्रिया ठीक है, वह व्यक्ति बहुत लम्बे समय तक स्वस्थ रह सकता है, दीर्घायु हो सकता है और बुढ़ापे को टालता रहता है। उसका बुढ़ापा दुःखद नहीं हो सकता। किन्तु जिसकी थायराइड ग्रंथि कमजोर हो जाती है, वह आदमी इन सारी कठिनाइयों को भुगतता है।

चिन्ताएं और उद्विग्नताएं इसको बिगाड़ देती हैं। आज इतना उद्विग्न हो गया आदमी और इतना कुतूहली हो गया कि बच्चे को बूढ़ा बना देने की या बुढ़ापा ला देने की प्रक्रिया माता-पिता करते हैं। वे चाहते हैं कि बच्चा चालीस का होते-होते बूढ़ा बन जाए। अगर नहीं चाहते तो बच्चे के सामने कभी टी०वी० नहीं रखते। टी०वी० बुढापा लाने का सबसे सुन्दर उपाय है। जिस बच्चे को बूढ़ा बनाना हो वह अपने घर में टी०वी० लाएगा और खूब दिखाएगा कि बच्चा कही जवान हो न जाए। सीधा बचपन से बुढ़ापे में चला जाए।

ब्रिटेन में हजारों बच्चे चश्मेधारी बन गए। छोटे बच्चों के भी चश्मे लग गए टी०वी० देखने के कारण। उनमें प्रातःकाल से ही ऐसी तड़प जाग जाती है कि टी०वी० देखें और जब कोई फिल्म आती है तब तो सारी बातें भूल जाते हैं—खाना-पीना-सोना। बस, टी०वी० ही टी०वी०। टी०वी० परमात्मा बन जाता है। बहुत सारे लोग हुए हैं दुनिया में जिन्होंने परमात्मा का ध्यान किया है बड़ी तड़प के साथ। पर ऐसा आकर्षक परमात्मा तो दुनिया में कोई हुआ ही नही है, जैसा टी०वी० है। टी०वी० से आंख जल्दी खराब होती है और आंख जितनी जल्दी खराब होती है, उतनी ही जल्दी बूढ़ा बनता है। जितनी ज्यादा उत्सुकता होती है, उतना ही व्यक्ति अपनी थायराइड ग्लैण्ड को निष्क्रिय बनाता है। उसके रस-स्राव निष्क्रिय हो जाते हैं। ये सारी मानसिक उद्विग्नताएं और उत्सुकताएं असमय में ही बुढ़ापा लाने वाली हैं।

इस सारे माहौल में, आज के वातावरण में, बुढ़ापे के साथ मैत्री करना एक बहुत बड़ी समस्या है। किन्तु कम से कम अध्यात्म के क्षेत्र में और ध्यान के क्षेत्र में जाने वाले लोगों को तो इस बात का चिंतन करना होगा कि वे बुढ़ापे के साथ मैत्री कैसे स्थापित कर सकते हैं?

आज एक संयोग भी बहुत सुन्दर मिला, आचार्यवर की सन्निधि हमें प्राप्त है। जो बात कही जाती है सिद्धांत की, वह बात निदर्शन में सामने आती है, प्रयोगात्मक होती है तो समझने में बड़ी सुविधा होती है। आज हमारे सामने उदाहरण भी उपस्थित है। आचार्यवर बहुत बार कहते हैं कि मैं सत्तर वर्ष का जवान हूं। बात तो अटपटी-सी लगती है सुनने में कि भला बत्तीस वर्ष का जवान तो सुना, किन्तु सत्तर वर्ष का जवान यह पुराने साहित्य में कभी-कभार मिलेगा। पर आचार्यश्री कहते हैं कि मैं सत्तर वर्ष का जवान

हूं। आचार्यश्री जैसे महान् सत कहते है अतः इसे अन्यथा तो कैसे मानें। यह तो मान ही नहीं सकते। यह बात अर्थपूर्ण है। मैंने देखा है कि आचार्यश्री ने बुढ़ापे के साथ मैत्री करना सीखा है। जो व्यक्ति बुढ़ापे के साथ मैत्री करना जानता है वह अस्सी वर्ष का भी जवान होता है और नब्बे वर्ष का भी जवान होता है। जो बुढ़ापे के साथ मैत्री करना नहीं जानता वह चालीस वर्ष का भी बूढ़ा हो जाता है, तीस वर्ष का भी बूढ़ा हो जाता है। यह बिल्कुल सही बात है। आचार्यवर मे कार्यजाशक्ति उतनी ही, इन्द्रियो की शक्ति उतनी ही, ठीक चिन्तन, स्वस्थ, संतुलन, समता—ये सारी बातें हैं। जिस व्यक्ति मे ये सारी बातें होती हैं वह बुढ़ापे के साथ मैत्री को पाल सकता है, निभा सकता है और उसका बुढ़ापा जवानी में बदल सकता है।

जो व्यक्ति बुढ़ापे के साथ मैत्री नही करता, वह ७० वर्ष का होकर फिर बारह वर्ष का बच्चा बनता है। शरीरविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि हमारे मस्तिष्क की ग्रहणशक्ति बीस-पच्चीस वर्ष की अवस्था में सबसे अच्छी होती है। वह धीरे-धीरे घटते-घटते, अस्सी वर्ष तक आदमी पहुंचता है तो, बारह वर्ष के बच्चे जैसी ग्रहणशक्ति बन जाती है। ठीक वह संस्कृत का सूत्र याद आ रहा है—पुनरपि बाल्यं कृतं जरया। बुढ़ापे ने फिर उसे बच्चा बना दिया। बच्चे के दांत नहीं होते, उसके भी दांत नहीं हैं। तो फिर बच्चा बनना शुरू हो गया। जो बुढ़ापे के साथ मैत्री नहीं करता उसमें बचपन आता है, नादानी आती है। जो बुढ़ापे के साथ मैत्री कर लेता है उसमें जवानी आती है, वह जवान जैसा रहता है और जवान जैसा कार्य करता है।

प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में आप इस बात पर विचार करें कि ध्यान का अभ्यास अनाग्रह का, तनावमुक्ति का, आहार-संयम का और इन्द्रिय-संयम का अभ्यास है। यह निषेधात्मक भावों से बचने का अभ्यास है। प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास का अर्थ है बुढ़ापे के साथ मैत्री करना।

मैत्री : वर्तमान के साथ

आदमी शक्ति से काम करता है। कल रोटी खाई थी उसकी शक्ति आज विद्यमान है। आज रोटी खा रहे हैं उसकी शक्ति कल काम आएगी। तो दो कल के बीच एक आज है। आज को समझना बहुत जरूरी है। जो केवल कल को समझता है वह सफल नहीं हो सकता। जीवन में वही व्यक्ति सफल होता है जो केवल आज को ही जानता है।

ध्यान का एक बहुत बड़ा परिणाम है आज को समझना, वर्तमान को समझना और वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करना। आदमी जो कुछ करता है, वह अतीत की प्रतिक्रिया है। आदमी जो कुछ करता है, उससे भविष्य जुड़ा हुआ है। एक फसल की कटाई हो रही है और एक बीज की बुआई हो रही है। जो अतीत है, वर्तमान में उस फसल की कटाई हो रही है। भविष्य आज की बुआई है। आज जो बीज बोया जा रहा है वह भविष्य बनेगा। यह फसल की कटाई और बीज की बुआई दोनों वर्तमान में होते हैं। मनुष्य झूठ बोलता है, हिंसा करता है, बुराई करता है, अहिंसा का आचरण करता है, सच बोलता है, अच्छाई करता है—इन दोनों के साथ अतीत जुड़ा हुआ है। अतीत का संबंध है, किन्तु करता वर्तमान में है। एक है कार्यभूत भाव, दूसरा होता है कारणभूत भाव। बीज वर्तमान में बोया जाता है। जो आज कार्य हो रहा है, वह कार्यभूत भाव वर्तमान में हो रहा है। अतीत अभिव्यक्त होता है वर्तमान में और भविष्य जन्म लेता है वर्तमान में। वर्तमान में ही सब कुछ होता है। अतीत बीत गया और भविष्य आया नहीं। ये काल्पनिक बातें हो गई। यथार्थ है वर्तमान। ध्यान का अर्थ है वर्तमान का मूल्यांकन और वर्तमान के साथ मैत्री का प्रयोग।

वर्तमान के साथ मैत्री करने के लिए पांच तत्त्वों पर ध्यान देना जरूरी होता है—स्मृति, प्रीति, वीर्य, समाधि और उपेक्षा। ये पांच अंग हैं वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करने के लिए। पहला अंग है स्मृति। सतत स्मृति। जो आदमी भूल जाता है वह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित नहीं कर सकता।

जिसकी स्मृति रखना है उसकी सतत स्मृति, निरन्तर स्मृति बनी रहे। जागरूक रहना है तो जागरूकता की सतत स्मृति। या जो कुछ किया जा रहा है उसकी सतत स्मृति। स्मृति वर्तमान के साथ मैत्री करने का बहुत अच्छा साधन है। जो भुलक्कड़ है वह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित नही कर सकता।

आदमी अपने आपको भूल जाता है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपने आपको नही भूला हुआ है। जब अपनी विस्मृति हो सकती है, चैतन्य की विस्मृति हो सकती है, अपने स्वरूप की विस्मृति हो सकती है तो भला अपने पत्नी की, अपने भाई की और अपने बाप की और अपने परिवार की विस्मृति हो जाए तो कोई बडी बात नही है। आदमी बहुत भुलक्कड है। इसीलिए पहला सूत्र है स्मृति यानी याद रखना। सतत स्मृति। निरंतर याद रखना। भूलना नहीं। वही व्यक्ति वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है जो स्मृतिवान् है, भूलता नही है।

विस्मृति होती है तो वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित नही हो सकती। मैत्री जब स्थापित हो जाती है जो फिर वह टूटती नहीं है। या तो कोई मित्र बनता ही नही है और जब बन जाता है फिर टूटता नही है। कभी-कभी आदमी श्वास लेना भी भूल जाता है। जो श्वास को भी भूल जाता है वह वर्तमान के साथ क्या मैत्री स्थापित करेगा? वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करने का सबसे शक्तिशाली और सबसे पहला कोई साधन है तो वह है श्वास। जो श्वास के प्रति जागरूक रहता है, इस बात पर ध्यान देता है कि मैं श्वास ले रहा हूं, सचमुच वह वर्तमान का मूल्यांकन करता है। जो श्वास के प्रति उपेक्षा करता है, उसके प्रति ध्यान नहीं देता, वह वर्तमान को ठीक प्रकार से आंक नही सकता।

दूसरा सूत्र है—प्रीति। जो किया जा रहा है उससे मन में कोई आल्हाद पैदा नहीं हो रहा है तो काम चल नही सकता। वही व्यक्ति वर्तमान को साथ लेकर चल सकता है जिसमें प्रीति का भाव पैदा हो गया, आल्हाद का भाव पैदा हो गया। आल्हाद बना रहता है तब तक आदमी वर्तमान में बना रहता है। आल्हाद का भाव छूटा, प्रीति का भाव छूटा तो आदमी अतीत में चला जाएगा या भविष्य में चला जाएगा। वर्तमान में जो किया जा रहा है उसके साथ प्रीति। श्वास-प्रेक्षा की जा रही है। उसके साथ आनन्द आ गया, आल्हाद का भाव आ गया, प्रियता जुड़ गई, तो वह चलेगा। श्वास-प्रेक्षा

चलेगी और श्वास-दर्शन चलेगा। प्रीति नहीं है तो फिर विकल्प चलेगा, स्मृतियां चलेंगी। आदमी जैसे ही प्रीति को छोड़ता है वैसे ही अतीत में या भविष्य में चला जाता है। प्रीति का धागा बना रहता है तब तक वर्तमान में रहता है। जैसे ही यह प्रीति का धागा टूटता है आदमी भविष्य की यात्रा में निकल पड़ता है।

तीसरा सूत्र है—वीर्य, पराक्रम, पुरुषार्थ, प्रयत्न। यह बहुत मूल्यवान् है। बहुत सारे लोग इसीलिए वर्तमान का मूल्य नहीं करते कि उनमें आलस्य बहुत होता है। वे आलसी होते हैं। पड़े रहते हैं। जो करना होता है, वह नहीं कर पाते। करते ही नहीं। या तो लेटे रहेंगे या निकम्मी गप्पें मारेंगे या मनोरंजन के साधन में लग जाएंगे। पहर के पहर मनोरंजन में बीत जाए, यह सबसे मूर्खता और सबसे बड़ा गरीबी को पालने का साधन है। जो व्यक्ति केवल मनोरंजन में ही रहेगा वह न तो अपना आर्थिक जीवन ही अच्छा बना पाएगा और न आध्यात्मिक जीवन ही अच्छा बना पाएगा। वह कोई काम नहीं कर पाएगा।

निकम्मापन, वीर्य का अभाव बहुत बड़ी समस्या है। दो पहलुओं पर विचार करना है कि जिस आदमी ने वीर्य का प्रयोग नही किया, श्रम नहीं किया, वह किस स्थिति में जाता है और जिसने श्रम किया, पुरुषार्थ किया, वह किस स्थिति में जाता है। श्रम न करने का क्या परिणाम होता है और श्रम करने का क्या परिणाम होता है। इन दोनो पहलुओं पर जो विचार करता है और अपने वीर्य का प्रयोग करता है वह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है।

बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अवसर मिलता है, सामग्री मिलती है; साधन मिलते हैं, सारी स्थितियां सुलभ होती हैं। पर अपने आलस्य के कारण, वीर्य के अभाव के कारण, वे अपने कार्य में सफल नही हो पाते।

श्रम करना, वीर्य का प्रयोग करना, वर्तमान को मूल्यांकित करने का बहुत बड़ा सूत्र है।

जयपुर मे शिक्षा विभाग द्वारा एक शिविर था। उसमे राजस्थान के हर जिले के अध्यापक भाग ले रहे थे। शिविर प्रारंभ हुआ मानसिंह स्टेडियम मे। कार्यक्रम शुरू हुआ तो पहले दिन ही शिकायतों की भरमार। अध्यापकों ने कहा कि इतना काम तो हमसे कभी लिया ही नही जाता। सेमिनार मे जाते हैं, और-और शिविरों में भी जाते हैं तो तीन घंटा से ज्यादा कभी काम ही

नही होता। यहां तो आठ-दस घंटा काम करना पड़ता है। इतना कठोर श्रम तो नहीं हो सकता। एक दो दिन तो ऐसा लगा कि जैसे कार्य ठप्प हो रहा है। फिर थोड़ा प्रोत्साहन दिया गया। आशा बंधाई गई। दो दिन बाद तो अभ्यास हो गया और बड़ा रस लेने लग गए। मैंने कहा कि हिन्दुस्तान की गरीबी का सबसे बड़ा कारण है श्रम का अभाव। यहां का आदमी आलसी बहुत है, श्रम से जी चुराता है। यहां बहुत संपदा है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण गरीबी है यह भी कोई कारण नही है। जनसंख्या का तो बड़ा उपयोग हो सकता है। यह भी एक बहुत बड़ा बल है, एक बहुत बड़ी शक्ति है। न तो गरीबी मे जनसंख्या कारण है और न संपदा का अभाव कारण है। कारण है श्रम का अभाव। श्रम नही। जितना श्रम चाहिए वह नही है। जितना कठोर श्रम चाहिए वह नहीं हो रहा है। यदि कठोर श्रम वाली बात आए तो गरीबी की समस्या स्वतः हल हो जाए।

वीर्य का अभाव बहुत सारी उलझनें पैदा करता है। वीर्य का प्रयोग बहुत सारी समस्याओं का समाधान देता है। जिन्होंने यह सूत्र पकड़ा है कि वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करना है तो उन्हें अपने वीर्य का प्रयोग करना होगा, शक्ति का प्रयोग करना होगा। जब शक्ति का प्रयोग होता है, पुरुषार्थ होता है तो वर्तमान को आप ठीक पकड़ पाएंगे और वर्तमान आपका पूरा साथ देगा। जिस व्यक्ति का वर्तमान साथ नही देता, वह व्यक्ति कभी पराक्रम नही कर सकता। जिस व्यक्ति का भाग्य साथ नही देता वह व्यक्ति भी पराक्रम नहीं कर सकता।

एक गरीब आदमी किसी संन्यासी के पास गया और नमस्कार कर बोला—'महाराज! बहुत गरीब हूं। अनुग्रह करें और मेरी गरीबी मिटा दें।' संन्यासी को दया आ गई। उसको एक पारसमणि देते हुए संन्यासी ने कहा—'इसे ले जाओ। इससे लोहा सोना बन जाता है। तुम जितना चाहो उतना सोना बना लेना। मैं छह महीनो के बाद आकर यह पारसमणि ले जाऊंगा।' वह अत्यन्त प्रसन्न होकर घर गया। पारसमणि को एक ओर रखकर सोचा—छह महीने की लंबी अवधि है। जब कभी सोना बना लूंगा। अभी तो लोहे के भाव आकाश को छू रहे हैं। इस गलत चिंतन के कारण उसका पुरुषार्थ टूट गया। एक महीना बीता, दो-तीन और चार महीने बीत गए। लोहे का भाव वैसा का वैसा बना रहा। पांच महीने बीत गए। उसने सोचा, अभी एक महीना शेष है। तीस दिन बाकी हैं। सोना बनाने में घंटा भर

लगेगा। उनतीस दिन बीत गए। वह गणित मे उलझ गया, तर्क में फंस गया। सचाई से दूर होता गया। लोहे के भाव नहीं उतरे और तीसवां दिन बीतते-बीतते सन्यासी आया और पारसमणि लेकर चला गया। वह बेचारा वैसा का वैसा रह गया।

यह एक कहानी लग सकती है, एक कल्पना लग सकती है, पर यह बहुत यथार्थ है। न कहानी और न कल्पना, सचाई है। दुनिया में इस प्रकार के लोग होते हैं जो प्रमाद और अपनी गलत मान्यताओं के कारण वर्तमान का मूल्यांकन नही करते, वर्तमान के साथ मैत्री नही करते। वर्तमान चला जाता है। वह व्यक्ति जो पराक्रम का प्रयोग नही करता, वीर्य का प्रयोग नही करता, वह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित नही कर सकता।

वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करने का तीसरा सूत्र है—वीर्य—पराक्रम का उपयोग, अपनी शक्ति का उपयोग।

वर्तमान के साथ मैत्री करने का चौथा सूत्र है—समाधि, एकाग्रता। जो व्यक्ति चंचल होता है वह व्यक्ति वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित नहीं कर सकता। हमारा मन बहुत दौड़ता है। जो व्यक्ति इस सचाई को समझ लेता है कि मन के साथ कब किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, कब मन को दौड़ने के लिए स्थान देना चाहिए और कब मन को बांध कर पिंजड़े में डाल देना चाहिए, कब मुक्त करना चाहिए और कब उसे जकड़ देना चाहिए, वह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है। मन के साथ-साथ चलने वाला कभी सफल नही हो सकता। जो मन के साथ नहीं चलता किन्तु मन की गति पर जब-जैसी जरूरत हो वैसा नियंत्रण स्थापित करता है, वह व्यक्ति जीवन में सफल हो सकता है! मन का क्या! वह इतनी कल्पनाएं पैदा कर देता है कि आदमी बैठा है और तत्काल ऐसी कल्पना पैदा हुई कि उठकर जाने लगेगा। आया और आते ही दौड़ने लग जाएगा। कोई कल्पना आई, और अकारण क्रोध उत्तर आया। कल्पना आ गई, अकारण ही लोभ की भावना जाग गई। अकारण ही भय जाग गया। क्या-क्या नहीं होता! न जाने कितनी अवस्थाएं आती रहती हैं। ये सब उस व्यक्ति में आती हैं जो वर्तमान को नहीं जानता। जो वर्तमान को जानता है वह मन पर अंकुश रख सकता है, नियंत्रण रख सकता है। जो इस बात को जानता है कि वर्तमान मे मन से क्या काम लेना है, चेतना को कहां लगाना है, उसे मन सताता भी नहीं। मन उसी व्यक्ति को सताता है जो अतीत की यात्रा करता है। जो

वर्तमान की यात्रा पर रहता है, मन उसे सताता नहीं। जो व्यक्ति मन की हर मांग को पूरी नहीं करता, किन्तु मन की मांग की उपेक्षा करता है, वह वर्तमान को पकड़ लेता है।

वर्तमान के साथ मैत्री करने का पांचवां सूत्र है—उपेक्षा। एकाग्रता और उपेक्षा दोनों साथ-साथ जुड़े हुए हैं। यदि आपने मन की मांगों की उपेक्षा करना नहीं सीखा तो शायद कुछ भी नहीं सीखा। उपेक्षा करनी होगी। दिन में कितनी मांग उठती है। एक आदमी प्रातःकाल जब उठता है उस समय से जब रात को फिर सोता है उस अवधि के बीच हाथ में पेंसिल-पन्ना लेकर रहे और पूरे दिन की मांगों को लिखता जाए तो मैं सोचता हूं सैकड़ों मांगें दिन में आ जाएंगी। एक दिन में आदमी का मन सैकड़ों मांगें प्रस्तुत कर देता है। क्या आप सब मांगों को पूरा कर पाएंगे? कोई आदमी मन की मांग को पूरा नहीं कर पाता। वह व्यक्ति बहुत दुःखी होता है जो मन की मांग के साथ चलता है। सुखी वही होता है जो मांग की उपेक्षा कर देता है। मन की ऐसी कम मांगें हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ आवश्यक मांगें हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनको पूरा करना होता है। पर यदि लेखा-जोखा करें तो निकम्मी मांगें ९५% है और जरूरत की और काम की मांगें शायद ५% होती हैं। अब ९५% मांगों का झंझट और उसमें आदमी उलझ जाए तो मानसिक तनाव, खिंचाव, अशांति—ये सारी बातें पैदा होती हैं।

आज का युग मानसिक तनाव का युग है। आज पदार्थों की बहुलता है। सामने पदार्थ बहुत हैं। आज का बाजार तड़कीला-भड़कीला है, तड़क-भड़क बहुत है। इतनी दूकानें हैं कि कहीं पार ही नहीं है। किसी बड़े शहर में चले जाओ ऐसा लगता है कि न आर और न पार, बाजार में हजारों-हजारों चीजें। हजारों-हजारों प्रकार। वैराइटी का कोई अन्त ही नहीं है। अब मन का काम रहा कि जिसको देखे उसको मांगे। अब मांग पैदा होगी। अगर उन मांग के साथ चला जाए, बहा जाए तो अशांति और बेचैनी के सिवाय कुछ भी नहीं मिलेगा। तनाव ही तनाव होगा। बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है उपेक्षा करना। बच्चा साथ में होता है। मांग करता चला जाता है। हर मांग को पूरा करेगा तो बच्चा भी बीमार होगा, पैसा भी लगेगा। हर मांग को पूरा नहीं किया जा सकता, करना भी नहीं चाहिए। किन्तु मांग पर नियन्त्रण होना चाहिए, उसकी उपेक्षा होनी चाहिए। हां, आवश्यकता की उपेक्षा नहीं

होनी चाहिए। प्यास लगी है, पानी पिलाओ, भूख लगी है, रोटी खिलाओ। इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। पर अनावश्यक चीजों की तो उपेक्षा की जानी चाहिए। जो उपेक्षा करना नही जानता वह समाधि में नहीं जा सकता। समाधि मे जो नही जा सकता वह उपेक्षा करना नही जान सकता। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। समाधि के लिए उपेक्षा और उपेक्षा के लिए समाधि। यानी जिसमें चंचलता है वह मांगों की उपेक्षा नहीं कर सकता। मांग पर मांग आती जाएगी और उसे पूरा करने का प्रयत्न करेगा।

चंचलता एक बहुत बड़ा संकट है जीवन का। चंचलता को रोका भी नहीं जा सकता, किन्तु चंचलता जब एक सीमा मे परे चली जाती है, एक सीमा पार कर जाती है तो चंचलता बहुत बड़ा खतरा बन जाती है। ध्यान करना कोरी आध्यात्मिक साधना ही नहीं है, सफल जीवन जीने का सूत्र भी है, शांतिपूर्ण जीवन जीने का सूत्र भी है। जो व्यक्ति चंचलता को अपने जीवन में एक सीमा के बाद नही रोक पाता वह सबसे पहले अपने स्वास्थ्य के साथ अन्याय करता है। सीमा से अतिरिक्त चंचलता स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालती है। दिमाग की अपनी सीमा है। शक्ति की सीमा है कि आदमी कितना सोचे। निश्चित सीमा है, आदमी कितना बोले, शक्ति की एक सीमा है। शरीर से कितना काम करे, शक्ति की एक सीमा है। जो आदमी निरंतर शरीर को चंचल बनाए रखता है, निरंतर बोलता रहता है, निरंतर सोचता रहता है, यह सबसे कठिन काम है। शरीर थक जाता है, वाणी भी थक जाती है। पर यह दिमाग तो इतना विचित्र है कि कभी थकता ही नही। दिन में भी सोचता है और रात को सो जाता है फिर भी सोचता रहता है। नींद में भी सोचना बन्द नहीं होता। बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं जो नींद में भी मस्तिष्क को आराम नहीं दे पाते। इतनी चंचलता! यह स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालती है। उस व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा नही रहता जो चंचलता की उपेक्षा करना नहीं जानता। आप सोच रहे हैं, और भोजन का समय हो गया है। रोटी खाने बैठे हैं, भोजन परोस दिया गया, सामने थाली है, हाथ उठ रहा है, और कौर तोड़ा जा रहा है, मुंह मे जा रहा है। भोजन की क्रिया चालू हो रही है इधर, और उधर दिमाग चलता है। बहुत बड़ा खतरा है स्वास्थ्य के लिए। भोजन और दिमाग दोनों साथ में नहीं चलने चाहिए। भोजन चले तब दिमाग नहीं चलना चाहिए और दिमाग चले तब भोजन नहीं चलना चाहिए। खाते समय केवल खाने का ध्यान रहे और कोई बात सोची ही न जाए।

जो केवल खाता है वह वास्तव में खाता है और अच्छा काम करता है। जो केवल खाना नही जानता, खाता भी है और दुनिया भर की बात को सोचता भी चला जाता है, वह सबसे पहले अपने स्वास्थ्य के साथ, शरीर-तंत्र के साथ अन्याय करता है । पाचन बेचारा कैसे होगा ! पाचन तो तब हो जब पाचन-तंत्र को पूरा रक्त मिले । जब आदमी सोचता है तो रक्त तो दिमाग को मिलेगा, पाचन-तंत्र को पूरा रक्त मिलेगा नही तो पाचन की गड़बड़ी होगी । और यह माना जाता है कि जो आदमी बुद्धिजीवी है, लेखक है, साहित्यकार है, कवि है, ज्यादा सोचता है, उसकी पाचन-प्रणाली दूषित होना एक प्रकार से अनिवार्य बात है । जो आदमी यह जानता है कि कब किस दरवाजे को खोलना है और कब किस दरवाजे को बन्द करना है, वह शांति के साथ जी सकता है । जो सारे दरवाजे एक साथ खोल देता है, संभाल नहीं सकता तो किसी में से तो कुत्ता घुस रहा है और किसी में से गधा घुस रहा है। खुले दरवाजे मे से तो कभी भी कोई भी घुस सकता है। मनाही किसको करेंगे ? बीस दरवाजे खोल दिए और अकेला आदमी दरवाजे के सामने बैठ गया तो अन्य दरवाजो में से चोर भी घुस सकते है और कोई भी घुस सकता है । कभी भी मनाही नही हो सकती । वह आदमी सुखी जीवन नही जी सकता ।

वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित वही कर सकता है जो यह जानता है कि कब किस दरवाजे को खोलना है और कब किस दरवाजे को बन्द करना है ।

यह प्रेक्षाध्यान का अभ्यास इस बात का अभ्यास है कि जब चाहे तो चिंतन करें और जब चाहें तब चिंतन का दरवाजा बन्द कर दें । चाहें तब तो प्रवृत्ति करें और चाहें तब कायोत्सर्ग कर, उस दरवाजे को बन्द कर दें । जिस व्यक्ति के हाथ में समाधि और उपेक्षा—ये दोनों सूत्र आ जाते हैं, जो इन दोनों को समझ लेता है कि कब एकाग्र होना है और कब किसकी उपेक्षा करना है, वह वास्तव में वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित कर सकता है ।

वर्तमान के साथ मैत्री की स्थापना के पांच सूत्र याद करें—स्मृति, प्रीति, वीर्य, समाधि और उपेक्षा । इन पांच सूत्रों पर मनन करके ही हम वर्तमान का मूल्यांकन कर पाएंगे और तभी वर्तमान हमारा साथ देगा और एक नए जीवन की प्रणाली का विकास होगा ।

मैत्री : जीवन के साथ

आज की जीवन प्रणाली शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य के लिए अच्छी नही है। आज न केवल शारीरिक स्वास्थ्य गड़बड़ा रहा है, मानसिक स्वास्थ्य भी गड़बड़ा रहा है। और जब मन स्वस्थ नहीं होता तो हिंसा बढती है, अपराध हत्याएं और आत्म-हत्याएं बढ़ती हैं। जीवन प्रणाली को बदलना जरूरी है। जीवन के साथ वही व्यक्ति मैत्री स्थापित कर सकता है जो जीवन प्रणाली को बदले। बिना बदले न तो अच्छा जीवन जीया जा रहा है और न अच्छी मौत से मरा जा रहा है। जीवन और मौत—दोनों साथ जुड़े हुए हैं। जो अच्छा जीवन नहीं जी सकता, वह अच्छी मौत भी नही मर सकता। अच्छा जीवन जीने के लिए मौत बहुत बड़ा माध्यम है। और अच्छी मौत मरने के लिए जीवन बहुत बड़ा माध्यम है। दोनों में गहरा संबंध है। वर्तमान जीवन प्रणाली की सबसे बड़ी समस्या है भय की अनुभूति। आज का आदमी जितना भयभीत है उतना शायद अतीत में कभी भी नहीं रहा होगा। पुराने जमाने में लड़ाईयां भी होती थी और युद्ध भी होते थे। यह कोई नई बात नहीं है, पर आदमी बहुत आश्वस्त था। और इसलिए कि लड़ाई के मोर्चे पर कोई मारा जाएगा तो लड़ने वाला सैनिक मारा जाएगा। नागरिक के सामने कोई खतरा नहीं था और उसके सामने कोई समस्या नहीं थी। आज सब बदल गया। लड़ाई कहीं चल रही है और बम-वर्षा कहीं हो रही है। आदमी आश्वस्त नहीं है और कहीं भी विश्वास नही कर सकता। प्राचीन काल में आदमी बहुत स्वतंत्र था। जीने के लिए काफी स्वायत्तता थी। व्यापार करता पर कोई डर नहीं था। व्यापार के साथ भय जुड़ा हुआ नही था। आज तो व्यापार के साथ इतना भय जुड़ा हुआ है कि बड़े-बड़े व्यापारी निरंतर भयग्रस्त रहते हैं। रक्तचाप और हृदय की बीमारी जैसे बड़े व्यवसाय के साथ जुड़ी हुई हों, ऐसा लगता है। स्वतंत्र जीवन कम है। शोषण भी ज्यादा है। शोषण के तरीके भी बहुत निकल गए। वर्तमान जीवन में भय की व्याप्ति बहुत है। यह एक समस्या है।

दूसरी समस्या है—व्यस्तता। आज की जीवन प्रणाली में आदमी इतना

बड़ा दर्द है।' डाक्टर ने दवा दे दी। वह गया आधा घंटा के बाद फिर आ गया। डाक्टर ने देखा उसका चेहरा और समझ गया। वह बोला—'मुझे लगता है कि तुम्हारा सिर दर्द ठीक नहीं हुआ है। लो, अभी दवा बदल देता हूं।' उसने कहा—'डाक्टर साहब ! आप कृपा करें, मैंने अपना डाक्टर बदल लिया है।'

प्रतीक्षा की बात ही नही जानता आदमी। जीवन में जहां इतनी जल्दबाजी होती है, वहा धृति की कमी का एक कारण है मानसिक अस्त-व्यस्तता।

दूसरी बात है—सहिष्णुता की कमी। मानसिक दृष्टि से आदमी अस्त-व्यस्त है, क्योंकि वह सहन करना नही जानता। आज का छोटा बच्चा भी सहन करना नही जानता। लगता है कि आज जन्मघूंटी ही असहिष्णुता की मिल रही है। वह न मा-बाप की बात को सहन करता है और न अध्यापक की बात को सहन करता है और न किसी पड़ोसी की बात को सहन करता है। सहन ही नहीं करता। कितना अच्छा हो कि आज उलाहना देना, कुछ कहना और सीख देने की बात ही समाप्त कर दी जाए। कोई किसी पर अनुशासन न करे। किसी को उलाहना न दे। किसी को कुछ कहे ही नहीं। जिसके जैसा मन मे आए वैसा करे। तो शायद आज का व्यक्ति मान सकता है कि पूरा रामराज चल रहा है। जहां भी कहने की बात आई और उलाहने की बात आई वहां सिरदर्द पैदा हो जाता है। यह सहिष्णुता की कमी आज की जीवन प्रणाली की बड़ी समस्या है।

आदमी मानसिक दृष्टि से बहुत अस्त-व्यस्त है। इस जीवन प्रणाली के परिणाम क्या होंगे ? किसी भी प्रणाली को परखने के लिए उसके परिणामों पर ध्यान देना जरूरी है। वर्तमान जीवन प्रणाली का परिणाम है—मानसिक असंतुलन। संतुलन बहुत गड़बड़ा गया। यदि परीक्षा की जाए तो आज का छोटा बच्चा भी मानसिक दृष्टि से संतुलित नहीं है। बहुत असंतुलन है। दूसरा परिणाम है—पाचन-तंत्र की गड़बड़ी। पाचन-तंत्र बहुत विकृत हुआ है। पुराने आदमी काफी पचा लेते थे। आज पाचन की शक्ति नही रही। तीसरा परिणाम है—नींद की गड़बड़ी। आज की जीवन प्रणाली की देन है अनिद्रा की बीमारी। बहुत ग्रस्त है आदमी आज अनिद्रा की बीमारी से। पाश्चात्य देशो मे यह बीमारी बड़ी ही भयंकर है। अरबों-खरबों की दवाइयां केवल नींद के लिए ही चल रही हैं। एक तो आहार को पचाने के लिए

और एक नींद को लाने के लिए। जितने की दवाइयां चलती हैं उतने मे एक राज्य का बजट बन जाता है। इतनी दवाइयां चल रही हैं और प्रयोजन कुछ भी नहीं है। नींद लेने के लिए दवा क्यों चाहिए ? नीद तो प्राकृतिक है, स्वाभाविक है। आदमी सहज भाव से नींद लेता है। नींद प्राकृतिक काम है। ये प्राकृतिक स्थितियां हमारी विकृत जीवन प्रणाली के कारण इतनी गड़बड़ा गईं कि खाने के लिए भी, पचाने के लिए भी और नींद लाने के लिए भी दवाइया चाहिए।

एक भाई बोला, पहले मैं नींद की एक गोली लेता था। फिर बाद में उसका असर कम हो गया, दो लेने लग गया और धीरे-धीरे पांच-छह गोलियां लेने लग गया। अब कोरा जहर भर रहा हूं पेट में। गोलियां विषैली होती हैं और नशीली होती हैं। पर उपाय क्या, गोली लिए बिना नींद आती ही नही है। विवशता हो गई, गोली लेनी ही पड़ती है।

हाई ब्लड प्रेशर, उच्च रक्तचाप, यह वर्तमान जीवन प्रणाली की एक समस्या है और उसका एक परिणाम है। पुराने जमाने के वैद्य तो इस बीमारी को कम जानते थे। यह होती भी कम ही थी। नही होती ऐसी बात तो नहीं। ये कुछ बीमारियां बड़े लोगों की बीमारियां थी। यक्ष्मा, उच्च रक्तचाप और हृदय की बीमारी—ये कुछ बड़े लोगों की बीमारीयां थी। आज तो जन साधारण की बीमारी बन गई। हो सकता है कि जब सत्ता जन साधारण के हाथ में आ गई तो बीमारी भी पीछे क्यों रहे। यह भी अपना अधिकार चाहती है। जब राजतंत्र से सत्ता सरक कर आम आदमी के हाथ मे आ गई तो बीमारी क्यों पीछे रहना चाहेगी ? उसने भी अपना अधिकार ले लिया और जन साधारण के साथ जुड़ गई।

जयपुर मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल ने कहा कि यदि रक्तचाप की बीमारी का समाधान मिल जाए तो आज की दुनिया को बहुत बड़ा समाधान मिल जाता है। आज की यह विश्वव्यापी बीमारी है। हृदय रोग, हार्ट ट्रबल और हार्ट अटैक—यह भी जीवन प्रणाली से बहुत संबंधित है। जहां जल्दबाजी है वहां हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जहां व्यस्तता है वहां हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। हृदय तो अपनी गति मे चलता है। आपको पता होना चाहिए कि हृदय इतना व्यस्त नहीं है। आप व्यस्त ज्यादा हैं, किन्तु आपका हृदय कम व्यस्त हैं। हृदय कितना सयाना है कि आठ घंटा काम करता है और सोलह घंटे विश्राम करता है। क्या आप भी करते हैं ऐसा ?

हृदय एक सेकेंड धड़केगा तो दो सेकेंड विश्राम लेगा। ठीक प्रेक्षा ध्यान का प्रयोग कि कोई भी काम करो तो साथ में कायोत्सर्ग करो। आसन करो तो कायोत्सर्ग। सर्वांगासन किया तो करने के बाद कायोत्सर्ग। मत्स्यासन किया तो करने के बाद थोड़ा कायोत्सर्ग। वंदनासन किया तो करने के बाद थोड़ा कायोत्सर्ग। हर प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति। प्रवृत्ति और निवृत्ति का एक संतुलन है। काम करने की कला है—प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन। प्रवृत्ति को पकड़ा और निवृत्ति को छोड़ा। वह जीवन की प्रणाली अच्छी नही होती जिसमें कोरी प्रवृत्ति होती है। कोरी निवृत्ति भी नही चल सकती। उससे भी जीवन नही चल सकता। प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन, सक्रियता और निष्क्रियता का संतुलन, व्यस्तता और कायोत्सर्ग का संतुलन, तनाव और शिथिलीकरण का संतुलन। तनाव भी जीवन में जरूरी होता है। किन्तु साथ में शिथिलीकरण का संतुलन चाहिए। कोरा तनाव हो तो टूट जाता है। कभी तनाव और कभी ढील देना। कभी खींचना और कभी ढील देना। संतुलन हो तब तो ठीक काम चलता है। कोरा खींचा जाता है तो रस्सी भी टूट जाती है। हृदय भी कायोत्सर्ग करना जानता है। हर धड़कन के बाद कायोत्सर्ग कर लेता है और विश्राम ले लेता है। इसका अर्थ हुआ कि आठ घंटा काम करना और सोलह घंटा विश्राम लेना।

लोग मुझे पूछते हैं, आप इतना कब लिख लेते हैं ? हर समय हम देखते हैं कि लोग आपको घेरे रहते हैं, फिर लिखते कब हैं ? मैं उन्हें कहता हूं कि मैं ज्यादा लिखता ही नही हूं। मैं यह मानता हूं कि जो दिन भर लिखेगा उसके दिमाग से भुसा निकलेगा, कूड़ा-कचरा निकलेगा। बेचारे दिमाग को विश्राम ही नही मिलेगा तो निकलेगा ही क्या ! जिस व्यक्ति को कोई नई बात देनी है, नया चिन्तन और नया विचार देना है, उसे पूर्ण विश्राम देना जरूरी है। जो हमेशा सोचता रहता है, हमेशा सक्रियता और चंचलता में रहता है, उससे जो निकलेगा वह दो नम्बर का माल निकलेगा, असली नही निकल सकता। प्रथम श्रेणी का तो निकल ही नही सकता।

विश्राम देना और कायोत्सर्ग में रहना बहुत जरूरी है। मुझे याद कि मैं कोई चीज लिखता हूं तो एक साथ घंटा से ज्यादा नहीं लिखता, और जब यह लगता है कि अब सोचना पड़ रहा है तो उसी क्षण लेखनी बन्द हो जाती है। जब तक दिमाग अपने ढंग से कुछ देता है, तब तक दोहन करूं और जब लगे कि अब तो जबरदस्ती हो रही है, कुछ सोचना पड़ रहा

है और लेखनी थम रही है तो उसी क्षण लेखनी को विश्राम दे देता हूं। तो दोहन करना भी एक कला है। जो गाय को ज्यादा दूह लेता है तो समस्या पैदा हो जाती है। न दुहना भी समस्या है और ज्यादा दूहना भी समस्या है। दोनों ओर से समस्या पैदा हो जाती है। कुछ लोग दोहन करना नहीं जानते और कुछ लोग दोहन ही नहीं करते। न वे मस्तिष्क का दोहन करते हैं और न शरीर का दोहन करते हैं। इस स्थिति में सारे अवयव निकम्मे हो जाते हैं। जो आदमी ज्यादा आराम करता है, उसके शरीर के सारे अवयव निकम्मे बन जाते हैं। शरीर को जितना श्रम चाहिए वह श्रम नही मिलता तो स्वास्थ्य भी आराम करने लग जाता है। फिर बीमारियां भुगतनी पड़ती हैं। अदोहन की समस्या है तो अतिरिक्त दोहन की भी समस्या है। प्राचीन काल की ऐसी प्रणाली थी कि पहले गाय को दुहते और दुहने के बाद फिर उसे बलपूर्वक दुहते कि अगर दस वर्ष दूध देती तो दो वर्ष के बाद ही गाय समाप्त हो जाती। अति दोहन भी एक समस्या है। पता नहीं बात क्या है, आदमी बीच की बात को नही जानता। आदमी अति पर जाना चाहता है। छोर पर जाने में ज्यादा रस है, मध्यस्थ रहने में रस कम है। बीच को नहीं पकड़ता, या तो यह छोर या वह छोर, या तो अति काम या अति आराम। दोनों अच्छे नही हैं। न कोरा आराम अच्छा है और न कोरा काम अच्छा है। आराम और काम दोनों का संतुलन एक अच्छी बात बनती है। किन्तु लगता है कि वर्तमान की जीवन प्रणाली में विश्राम वाली बात, शिथिलीकरण वाली बात, कायोत्सर्ग वाली बात जुड़ी हुई नही है। इसीलिए ये उसके परिणाम सामने आ रहे हैं। प्रणाली को बदलने की जरूरत है। परिवर्तन में हमारा विश्वास होना चाहिए। परिवर्तन हमारे लिए बहुत आवश्यक है और इससे आदमी बहुत लाभ उठा सकता है।

आज पदार्थों के क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने बहुत परिवर्तन किया है। काफी स्थितियां बदली हैं। परिवर्तन नहीं होता तो समस्याओं का समाधान नहीं होता। काफी परिवर्तन आया है। मानसिक स्तर पर और आध्यात्मिक स्तर पर बहुत बदलने की जरूरत है।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को बहुत जरूरी चिंतन करना है कि कम से कम उसकी जीवन प्रणाली तो बदले। परिवर्तन कहां से शुरू करें। प्रातः काल से शुरू करें। सबसे पहली बात है जल्दी उठना। आप जागते हुए सूरज को देखें, सोते हुए न देखें। सूरज आपके सोते हुए का दर्शन

न करे, आप सूरज का दर्शन करें।

जीवन की प्रणाली का पहला सूत्र होगा, जल्दी जागना। यह कब संभव होगा कि आप ठीक समय पर सो जाएं। यह जरूरी नही कि बारह बजे और एक बजे सोया जाए। व्यस्तता होने पर भी समय की निश्चितता हो तो जल्दी सोया जा सकता है।

दूसरी बात कि आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर आसन का प्रयोग करना। जीवन के लिए अनिवार्य हैं आसन और व्यायाम। इनसे सारे शरीर का तंत्र ठीक काम करने लग जाएगा। बड़ा आश्चर्य है कि सामान्य नियम को लोग क्यों नहीं मानते ! जब तक सूरज का ताप और धूप शरीर को नही लगती तब तक पाचन-तंत्र अपना काम नही करता। लीवर, पेन्क्रियाज, आमाशय और पक्वाशय तब सक्रिय बनते हैं जब सूरज की धूप उन्हें लगती है।

तीसरी बात है सम्यक् श्वास। यानी सम्यक् श्वास लो। प्रातःकाल श्वास का प्रयोग करो। उठते ही सम्यक् श्वास से चर्या शुरू होनी चाहिए। इसका मतलब है दीर्घश्वास, छोटा श्वास नही। प्रारंभ से ही लंबे श्वास का प्रयोग करें। पूरा श्वास लेना और पूरा श्वास निकालना, जिससे कि कार्बन भी पूरा निकल जाए और आक्सीजन भी पूरा मिल जाए। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य सब श्वास पर निर्भर है।

चौथी बात है सम्यक् आहार। आहार भी सम्यक्। आहार के बारे में भी कम जानकारी है। हमारा सूत्र बन गया केवल स्वाद। दीखने में अच्छा और केवल स्वाद। इसके सिवा तीसरी कोई जानकारी नहीं है। बहुत लंबी बात है आहार की। इस विषय में जिसे जानना हो वह मेरी पुस्तक 'अध्यात्म और आहार' अवश्य पढ़े।

पांचवी बात है—मानसिक संतुलन। यह तब संभव है, जब इन प्रयोगों के द्वारा हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां सक्रिय होती हैं। वे सक्रिय होकर अपने स्रावों का ठीक प्रवाह रखती हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के प्रवाह संतुलित रूप में प्रवाहित होते हैं। तब हमारे मस्तिष्क के कार्टेक्स में जाकर संतुलन की स्थिति का निर्माण करते हैं। जिसकी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां गड़बड़ा जाती हैं, उनके स्राव गड़बड़ा जाते हैं, उनका स्वास्थ्य निश्चित रूप से गड़बड़ा जाता है। स्वास्थ्य का बहुत बड़ा माध्यम है ग्रन्थियों का संतुलित स्राव।

आसन, प्राणायाम और भोजन—ये सारे ग्रन्थियों को संतुलित बनाए रखने वाले हैं। आसन का एक उद्देश्य है कि कर्म की निर्जरा होती है, संतुलन रहता है और साथ-साथ थाईराईड ग्लेण्ड को भी विश्राम मिलता है और पोषण मिलता है।

प्रेक्षा-ध्यान के प्रयोग इस आधार पर निर्धारित किए गए हैं कि संतुलन के लिए जो जिम्मेवार है ग्रन्थियां और जो जिम्मेवार हैं शरीर के अवयव उन सबका संतुलन भी बराबर बना रहे। इस आधार पर यह सारा क्रम निर्धारित किया गया है। कुछ लोग ध्यान करते हैं पर आसन करना नहीं जानते। बहुत बड़ा खतरा है। यदि कोई ध्यान करेगा और आसन-प्राणायाम नही जानेगा तो ध्यान उसके लिए बाधक बन सकता है। ध्यान के द्वारा कुछ समस्याएं भी पैदा होती हैं। आप यह न मानें कि समस्याएं पैदा नही होतीं। *जो जितनी अच्छी चीज है उसके साथ एक समस्या भी जुड़ी हुई है। दुनिया* में ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो कल्याणकारी है और समस्याकारी नहीं है। प्रत्येक समाधान के साथ और प्रत्येक कल्याण के साथ एक समस्या जुड़ी रहती है। ध्यान की भी अपनी एक समस्या है। आसन और प्राणायाम इसीलिए है कि ध्यान से पैदा होने वाली समस्या का निवारण किया जा सके। ध्यान के द्वारा पाचन-तन्त्र पर भी प्रभाव होता है। वह कमजोर होता है। नाड़ी-तन्त्र को भी जरा शक्ति खर्च करनी होती है। किन्तु आसन किया तो फिर से पूर्ति हो जाती है। जो ध्यान लम्बा करता है, किन्तु आसन नही करता तो पाचन-तन्त्र उसका गड़बडा जाता है। इसलिए ये सारे के सारे जुड़े हुए हैं, इनमें अन्तःसंबंध है। यह सम्यक् आसन भी बहुत जरूरी है, सम्यक् श्वास भी बहुत जरूरी है और सम्यक् आहार भी बहुत जरूरी है।

छठी बात है सम्यक् क्रिया। काम करने की भी सम्यकता चाहिए। असम्यकता वह होती है कि जिस प्रवृत्ति के साथ शरीर तो चलता है किन्तु मन कही दूसरी ओर चलता है। वह क्रिया असम्यक् क्रिया होती है। एक अभ्यास डालना है कि शरीर और मन साथ-साथ चले। जो काम करें जिसमें मन चले, उसमें शरीर चले। और जिसमें शरीर चले उसमें मन चले। अगर आपका हाथ भोजन का कौर उठाने में चल रहा है तो मन भी साथ चले। यदि आपका पैर आगे बढ़ने को चल रहा है तो मन भी उसके साथ चले। यह शरीर और मन का योग जहां होता है वह क्रिया सम्यक् क्रिया होती है। शरीर तो चलता है पूर्व में और मन चलता है पश्चिम में। पैर तो जाता है

उत्तर में और मन जाता है दक्षिण में। खींचातानी शुरू हो जाएगी। मन कहता है इधर चलूं और पैर कहता है कि उधर चलूं। आपस में ही लड़ पड़ेंगे। क्या भला होगा ? कम से कम दोनों में मैत्री स्थापित करें कि जिधर मन चले उधर पैर चले और जिधर पैर चले उधर ही मन चले। दोनों साथ-साथ चलें।

सातवीं बात है—प्रतिक्रिया-विरति। वर्तमान की जीवन प्रणाली में प्रतिक्रिया का जीवन बहुत जीया जा रहा है। भयंकर प्रतिक्रिया। हर बात की प्रतिक्रिया। क्रिया बहुत कम होती है और प्रतिक्रिया बहुत अधिक होती है। प्रतिक्रिया के कारण आदमी बहुत अस्त-व्यस्त हो जाता है। यह जीवन में संभव तो नहीं कि प्रतिक्रिया न हो। जब तक आवेश है, आवेश की जीवन प्रणाली है, प्रतिक्रिया संभव है। प्रतिक्रिया-विरति का मतलब है आवेशों का अनुशासन, आवेशों का सन्तुलन। आवेशों को मिटाया तो नहीं जा सकता। पर आवेशों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। वे आपे से बाहर न हों, अपने कन्ट्रोल से बाहर न हों, यह सम्भव है। प्रतिक्रिया-विरति यानी आवेशों पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेना।

यह एक जीवन प्रणाली है जो प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा उपलब्ध हो सकती है, साधना और अभ्यास के द्वारा उपलब्ध हो सकती है। जो जीवन का ढर्रा चल रहा है, क्या उसे बदलना जरूरी नहीं है ? आदमी बहुत बदला है इस वैज्ञानिक युग में। तो क्या जीवन प्रणाली को बदलना भी जरूरी नहीं है ? बहुत आवश्यक लगता है। आदमी बहुत शांति और समाधान के साथ अपना जीवन जी सकता है। जो जीवन जीया जा रहा है, उसकी समस्याएं और जीवन को बदलना है, उसके सूत्र, दोनों के परिणाम इन सबकी एक संक्षिप्त-सी चर्चा अभी आपने सुनी। जो लोग प्रेक्षा-ध्यान के शिविर में हैं वे इस पर गंभीरता से विचार करें। शिविर में आने का मतलब है कि जब यहां से जाएं तो जीवन-प्रणाली को बदलने का सूत्र लेकर ही बाहर जाएं। शिविर में आये और जीवन वैसा का वैसा ही चला जैसा पहले था तो शिविर में आना भी एक ढर्रा बन सकता है, सार्थकता नहीं हो सकती। शिविर में आने की सार्थकता है कि आएं तब तो पुरानी प्रणाली के साथ और जाएं तब नई प्रणाली के साथ। और पुरानी प्रणाली को वोसिरामि-वोसिरामि कह दें। बस, पुरानी को छोड़कर जा रहा हूं और नई को लेकर जा रहा हूं। पुराने कपड़े को ओढ़कर आए और नया वेश, नया परिधान ओढ़कर जाएं।

बहुत सार्थकता होगी यदि नया आलोक और जीवन में नई रश्मि आए। ऐसा करके हजारों-हजारों लोगों को और प्रेरणा दे सकेंगे कि जीवन पहले कैसा था, अब बदला है। आपको उपदेश नही, आपकी बदली हुई जीवन प्रणाली दूसरों के लिए प्रेरणा बने।

मैत्री क्यों ?

प्रेक्षा-ध्यान अकेला रहने की कला है। जो अकेला रहना जानता है वही मैत्री कर सकता है। भीड़ में रहने वाला कभी मैत्री का विकास नहीं कर सकता। मैत्री क्यों आवश्यक है ? एक प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर अपने आप में खोजना है। आदमी खोजता रहता है, सत्य की खोज करता रहता है। अध्यात्म भी सत्य की खोज का एक मार्ग है और विज्ञान भी सत्य की खोज का एक मार्ग है। दोनों के माध्यम से सत्य खोजा गया और आज भी खोजा जा रहा है। उद्देश्य कुछ भिन्न हैं। विज्ञान के माध्यम से सत्य की खोज हो रही है। इसका उद्देश्य है भौतिक विकास और सुविधा। पदार्थ का अधिकतम विकास कैसे किया जा सकता है ? कैसे कम्प्यूटर युग में पहुंचा जा सके और कैसे अणुशक्ति का प्रयोग किया जा सके ? कैसे जनता के लिए अधिकतम सुविधा के साधन जुटाए जा सकें—यह है विज्ञान की खोज का उद्देश्य। भौतिक विकास और सुविधा—ये दो उद्देश्य बन जाते हैं। इनका विकास हुआ है। परिणाम कुछ विपरीत आया है। पदार्थ बहुत बढ़े, सुविधाएं बहुत बढ़ीं, अन्तरात्मा कुछ घटी है, कुछ सिकुड़न आई है। भय बढ़ा है, आतंक बढ़ा है और शत्रुता बढ़ी है। शीत युद्ध बढ़ा है। ये सारी निष्पत्तियां सामने हैं। अध्यात्म और सत्य की खोज की निष्पत्ति है मैत्री।

प्रेक्षा-ध्यान का एक सूत्र है जो अविचल गाथा के रूप में गाया जाता है—'अप्पणा सच्च मेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए।' स्वयं सत्य खोजो और सबके साथ मैत्री करो। सत्य की खोज करो और उसकी निष्पत्ति होगी मैत्री। जिस सत्य की खोज की निष्पत्ति मैत्री नहीं होती वह सत्य की खोज मनुष्य के लिए लाभदायक नहीं होती, कल्याणकारी नहीं होती। मैत्री हमारे जीवन की सबसे बड़ी सुख की फसल है। जिस व्यक्ति ने इसकी बुआई की है और जिस व्यक्ति के खेत में यह फसल पनपी है वह व्यक्ति सदा स्वस्थ रहता है, शांति और सुख का अनुभव करता है। जिसने इसका बीज नहीं बोया वह बीमार रहता है, और अशांति व दुःख का अनुभव करता है।

मेडिकल साइंस यह मानता है कि बीमारी का कारण है कीटाणु,

विषाणु और जीवाणु। क्या आदमी जहां रहता है उस वातावरण में बीमारी के कीटाणु हैं ? आदमी जहा जीता है और श्वास लेता है वहां वायरस नहीं है ? वहां जर्म्स भी हैं और वायरस भी है तो फिर आदमी बीमार क्यों नहीं होगा ? क्या हमारे शरीर में ये कीटाणु और विषाणु नहीं हैं ? ये जीवाणु नहीं है ? ऐसा कौन सा शरीर है जिसमें ये नहीं हैं ? जिस व्यक्ति की रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रबल होती है उसके लिए कीटाणु और विषाणु कभी रोग पैदा नही करते। वह सदा स्वस्थ रहता है। उन कीटाणुओं और विषाणुओं के साथ लड़ने की शक्ति उस व्यक्ति में होती है जिसमे मैत्री का भाव प्रबल होता है। जिसमे शत्रुता का भाव आया, उसका मनोबल कमजोर हो जाएगा। रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति उसकी कमजोर पड़ जाएगी। वह व्यक्ति ज्यादा बीमार पड़ता है जिसमें शत्रुता का भाव ज्यादा होता है।

विज्ञान की दो शाखाएं हैं—एक मेडिकल साइंस और दूसरी साईकोलोजी। मेडिकल साइंस के लोगों ने तो सारी बीमारी का आधार कीटाणु और विषाणु बतला दिया। किन्तु साईकोलोजिस्ट ने बतलाया कि यह गलत बात है। ये कीटाणु और वीषाणु ही बीमारी के कारण नही हैं। उनसे भी बड़ा कारण है मानसिक विकृतियां, मनोबल की कमी। जिसका मनोबल कमजोर होता वह व्यक्ति रोग से आक्रान्त होता है। जिसका मनोबल मजबूत होता है उसमे रोग से लड़ने की क्षमता होती है। वह चारों ओर से, वातावरण से और अपने शरीर से घिरा होने पर भी बीमारी से आक्रान्त नही होता।

जिस व्यक्ति मे मैत्री का विकास नही होता उस व्यक्ति का मनोबल विकसित नही होता। शत्रुता एक जहरीला कीड़ा है, जिसके पीछे लगा, उसे निरंतर सताता रहता है। और तब मन ही मन मनोबल दबता चला जाता है। यह कुंठा पैदा करता है, अवसाद पैदा करता है और घृणा पैदा करता है। कुंठा, घृणा, अवसाद और विषण्णता—ये ऐसे भयंकर कीटाणु हैं कि जो स्वास्थ्य को लीलते रहते हैं। आदमी बीमार पड़ता है। मैत्री की सबसे बड़ी और सबसे पहली निष्पत्ति है स्वास्थ्य। आदमी स्वस्थ रहना चाहता है, बीमार होना नहीं चाहता। चिकित्सक की दृष्टि में बीमार होने पर दवा की शरण लेना जरूरी है। किन्तु अध्यात्म की दृष्टि में बीमारी के आने पर सबसे पहले—अरहंते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहू सरणं पवज्जामि। केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि—यह शरण ली जाती है।

हमने जीवन के साथ मैत्री, रोग के साथ मैत्री एवं बुढ़ापे के साथ मैत्री, अनेक प्रसंगों के साथ मैत्री की चर्चा की। और इसलिए की कि जीवन का एक रहस्य है जीवन की विद्युत्। हमारा जीवन बिजली के आधार पर चलता है। शत्रुता के भाव से जीवन की बिजली घट जाती है, समाप्त हो जाती है। जिसकी जीवन-विद्युत् कमजोर है उसमें न प्रतिरोधकशक्ति होती है, न प्रसन्नता हो सकती है, न शांति हो सकती है, और न सुख का अनुभव हो सकता है। सुख क्या है ? विद्युत् का अनुभव ही तो सुख है। जो व्यक्ति प्राण और अपान को जानता है, इन शक्तियों को और इनके रहस्य को जानता है, वह जानता है कि सुख क्या है। बहुत सारे लोग इस बात को जानते हैं कि भोग करना सुख है। बहुत बड़ी भ्रांति है! अगर गहरे में उतर कर विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि न भोग में सुख है और न संभोग में सुख है। सुख है विद्युत्। जिसमें जितनी विद्युत् है, वह उतना सुख का अनुभव कर सकता है। जिसकी जितनी विद्युत् चुक जाती है वह उतना ही दुःखी बन जाता है।

मैत्री हमारे जीवन की विद्युत्-शक्ति को बढ़ाती है, प्राणशक्ति को बढ़ाती है और अपानशक्ति को बढ़ाती है। मैत्री प्राण और अपान—दोनों का योग कर एक स्थायी सुख की सृष्टि करती है। इसलिए प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति यदि ध्यान की शक्ति का मर्म समझता है तो वह है विद्युत् की शक्ति का विकास। और विद्युत्शक्ति के विकास का एक अनुपम साधन है मैत्री का विकास। ध्यान के शिविर में साधना की, फिर भी यदि पिता ने अपने पुत्र के साथ मैत्री नहीं की, भाई ने अपने भाई के साथ मैत्री नहीं की, सास ने अपनी बहू के साथ मैत्री नहीं की और बहू ने अपनी सास के साथ मैत्री नहीं की तो शिविर में आया, दस दिन रहा, श्वास लेना सीखा, दीर्घश्वास लेना सीखा, श्वास को रोकना सीखा, श्वास का संयम करना सीखा, शरीर को देखना सीखा, चैतन्य केन्द्रों को देखना सीखा, रंगों को देखना सीखा, सारी बातें सीख गया, पर मैत्री का पाठ लेकर शिविर से घर नहीं गया तो घरवाले तो यही मानेंगे कि बरतन रीता का रीता है, जैसा गया था वैसा का वैसा है। फरक ही नहीं पड़ा है। यह ध्यान की असफलता होगी।

एक जर्मन जज से शिविर के अनुभवों के बारे में पूछा गया तो उसने कहा—मेरी पत्नी और मेरे बच्चे कहेंगे कि तुम बहुत अच्छे होकर आए हो, तब तीन माह के बाद लिखूंगा कि मैं कैसा हूं, अभी क्या बताऊं ? मन

इस बात को नोट करें कि शिविर की साधना की और आज अनुभव बताने की जरूरत नही है। घर मे जाकर, तीन महीने के बाद अपने परिवार के साथ रहकर फिर यह बता सकें कि परिवार वालों ने आपको क्या प्रमाण पत्र दिया। फिर आप बता सकते है कि मेरा शिविर का क्या अनुभव है, क्या निष्पत्ति है ?

इस शिविर में पति-पत्नी भी है और सास-बहू भी है। कई प्रकार के संबन्धी लोग है। देवरानी और जेठानी भी हैं। सब प्रकार के लोग हैं। वे अपने घर में जाकर और दो-तीन माह के बाद अगर उनका प्रमाणपत्र मिल जाए, सास कहे कि बहू बहुत अच्छी मैत्री की भावना को लेकर आई है और बहू कहे कि सास में परिवर्तन आया है और मैत्री का भाव बढ़ा है तो मानें कि आपका यह शिविर बहुत सफल हुआ है। अगर ऐसा नही हुआ है तो फिर आपको सोचना होगा कि किया तो था किन्तु बीज ठीक बोया नहीं गया। बीज बोया तो था पर सूखा पड़ गया, वर्षा नही हुई, बीज अंकुरित नहीं हुआ। फिर से बीज की बुआई करनी पड़ेगी। कभी-कभी एक ही मौसम में किसान को दो-तीन बार बीज की बुआई करनी पड़ जाती है। आपको भी बुवाई करनी पड़ेगी। जब तक मैत्री का भाव प्रबल न बन जाए तब तक आपके ध्यान की साधना सफल नहीं होगी। इस कसौटी को सामने रखकर आप ध्यान का प्रयोग करें।

मैत्री के विकास से सचमुच आपके जीवन में स्वास्थ्य का विकास होगा, सुख का विकास होगा, प्रसन्नता का विकास होगा, विद्युत् का विकास होगा, शांति का विकास होगा और प्रसन्नता लहराएगी। इन सारी निष्पत्तियों के लिए आप मैत्री का मूल्यांकन करें और इसके विकास के लिए प्रेक्षाध्यान का मूल्यांकन करें। आपका दस दिन का प्रवास बहुत सार्थक होगा और आपका अनुभव होगा कि आपने बाहरी दुनिया से हटकर भीतर की दुनिया में जीने का कोई मंत्र सीखा है और वह मन्त्र सिद्ध हो गया है।

प्रश्न है दृष्टिकोण का

प्रश्न सामने आता है कि हिन्दुस्तान में बहुत धर्म हैं। बहुत धार्मिक लोग हैं। फिर भी अनैतिकता और अप्रमाणिकता क्यों है? यह प्रश्न सैकड़ों-सैकड़ों बार पूछा गया। यह चिन्तनीय प्रश्न है। यदि धर्म है तो अनैतिकता नहीं हो सकती और अनैतिकता है तो धर्म नही हो सकता। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इनका सह-अस्तित्व हो नही सकता। क्या यह प्रश्न धार्मिक व्यक्ति के मन को आन्दोलित करने वाला प्रश्न नहीं है? नही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सचमुच धार्मिक व्यक्ति का मन आन्दोलित होना चाहिए वर्तमान स्थिति को देखकर। उस आन्दोलन में से धर्म के प्रति एक प्रश्न उभरता है कि क्या आज धर्म में कोई शक्ति है, या एक शक्तिहीन धर्म चल रहा है?

सचमुच यह एक प्रश्न-चिन्ह है। जो लोग केवल रूढ़ि के आधार पर धर्म करते चले जा रहे हैं वे शायद न सोचें। किन्तु जिनमें थोड़ा सा चिन्तन है और सोचने की क्षमता है, उन्हें अवश्य सोचना होगा। इस संदर्भ में पहले भी सोचा गया था, आज भी सोचना है। पहले धर्म पैदा नहीं होता। पहले धर्म की श्रद्धा पैदा होती है। पहले श्रद्धा और बाद में धर्म। पहले श्रद्धा पैदा नहीं होती, पहले एक वेग आता है। वेग होता है और फिर श्रद्धा पैदा होती है। वेग, श्रद्धा और धर्म—यह क्रम बनता है। हम धर्म की बात सोचते हैं, उससे पहले श्रद्धा की बात सोचनी है और उससे पहले वेग की बात सोचनी है। पानी में वेग नहीं है तो लहर में वेग आगे नहीं जाएगा। जहां वेग कम होता है वहां लिफ्ट देनी होती है जिससे कि पानी वेग के साथ आगे जाए। वेग ही नहीं है तो पानी आगे जाएगा ही नहीं। सबसे पहले वेग की बात आती है। प्रत्येक आदमी वेग मे जीता है। वेग है आवेग। इसे कर्मशास्त्र की भाषा में कषाय और मनोविज्ञान की भाषा में इमोशन कह सकते है। हर आदमी इमोशन या आवेग के साथ जीता है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जो आवेग से मुक्त होकर जी रहा है। जब तक आवेग रहता है तब तब धर्म की बात सोची नही जा सकती। श्रद्धा की बात भी सोची नहीं जा

सकती। मूर्च्छा प्रबल होती है तब तक आवेग रहता है। आवेग और मूर्च्छा का जोड़ा है। जहां मूर्च्छा है वहां आवेग है। आवेग है वहां मूर्च्छा है। इसीलिए आदमी अनेक कष्टों को झेल लेता है और उन्हें अच्छा भी मानता है। क्योंकि मूर्च्छा में जी रहा है। उसे सचाई का पता नहीं चलता।

हम जागतिक नियमों के साथ चलते हैं। किसी भी बात की व्याख्या एक नियम के साथ नहीं की जा सकती। प्रत्येक घटना की व्याख्या के लिए अनेक सार्वभौम नियमों का सहारा लेना होता है। एक सार्वभौम नियम है—काल। काल नियम के साथ भी कुछ घटनाएं घटित होती हैं। कोई बाहर का कारण नहीं होता। कोई घटना नहीं होती। कोई हेतु नहीं होता। काल-मर्यादा के साथ कुछ घटनाएं घटित हो जाती हैं। मूर्च्छा सघन है, किन्तु काल नियम के साथ मूर्च्छा में कहीं-कहीं छेद हो जाता है। और एक नई घटना घटित हो जाती है। आवेग संवेग में बदल जाता है। वेग तो जरूर रहेगा। वेग को छोड़ने पर कोई घटना हो नहीं सकती। वेग को छोड़कर हम कुछ कर नहीं सकते। अनावेग की स्थिति तब आएगी जब इस शरीर को भी छोड़ देंगे। शरीर है तो शरीर का वेग जरूर रहेगा। शरीर है तो प्रवृत्ति होगी, क्रिया होगी, वेग होगा। वेग में मंदता नहीं आती। वेग में यदि मंदता आती है तो वह व्यक्ति निठल्ला आदमी बन जाता है, चुस्त नहीं रहता। सुस्त कोई व्यक्ति रहना नहीं चाहता। हर आदमी चुस्त रहना चाहता है। चुस्ती के लिए वेग का होना जरूरी होता है।

आचार्यश्री चलते हैं तो बहुत वेग के साथ चलते हैं। कोई ढीलाढाला चलता है तो उन्हें अच्छा नहीं लगता। कह देते हैं—चलना ही नहीं जानते। जहां गति में वेग नहीं है, तीव्रता नहीं है, मंजिल तक कैसे पहुंचा जा सकेगा? मंजिल तक पहुंचने के लिए गति में वेग होना जरूरी है। हम वेग को नहीं छोड़ सकते किन्तु हमारी वेग की यात्रा के पीछे दो बातें होती हैं। या तो 'आ' जुड़ेगा या 'सं' जुड़ेगा। 'आ' जुड़ेगा तो फिर भटकाव ही भटकाव। आवेग ही आवेग। और 'सं' जुड़ेगा तो उसका परिष्कार हो जाएगा, भटकाव बन्द हो जाएगा, मूर्च्छा घनीभूत नहीं रहेगी। संवेग उत्पन्न हुआ, इसका अर्थ है, अब तक मूर्च्छा थी, अब इसका स्थान मुमुक्षा ने ले लिया। संवेग का अर्थ है मुमुक्षा, मुक्त होने की इच्छा। एक वेग पैदा हुआ, इच्छा पैदा हुई कि मुझे मुक्त होना है। यह क्यों हुई कि मूर्च्छा में छिद्र हो गया। नहीं तो आदमी कितने समय से, असीम काल से शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक तापों को

सहता चला आ रहा है। कितने दुःख हैं? जैन और बौद्ध दर्शन ने दुःखवाद की व्याख्या की। दोनों दर्शनों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संसार दुःखमय है। पूछा—दुःख क्या है? उन्होंने कहा—जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मरण दुःख है। ये दुःख तो ऐसे हैं जिनमें कोई अपवाद नहीं है। और तो अपवाद हो सकता है। किसी को बहुत अच्छी संपदा मिली, अभाव नहीं रहा, ऐसा हो सकता है। बहुत सारे लोग भाव के साथ जीते हैं और बहुत सारे लोग अभाव के साथ जीते हैं। कोई जन्म से ही ऐश्वर्यशाली रहा और मरने तक ऐश्वर्यशाली बना रहा यह तो विकल्प हो सकता है, अपवाद हो सकता है। किन्तु जन्मना, मरना, रोग होना और बूढ़ा होना इसमें अपवाद नहीं हो सकता। हर व्यक्ति ने कुछ न कुछ बीमारी को भोगा है। बुढ़ापा आता रहा है। प्राणी जन्म लेता है और मरता है, यह दुःख है। तो फिर जब दुःख की अनुभूति होती है, आवेग संवेग बन जाता है। संवेग प्रबल हो जाता है। सांख्यदर्शन ने त्रिविधताप की व्याख्या की—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। ये तीन ताप हैं। इन तापों से जब व्यक्ति तप्त होता है तब उसमें मुमुक्षा पैदा होती है। मूर्च्छा में छिद्र होने पर यह मुमुक्षा का भाव पैदा होता है, संवेग पैदा होता है कि मुझे दुःख से मुक्त होना है, एक इच्छा पैदा होती है। संवेग, मुमुक्षा—यह एक नई इच्छा पैदा हो गई। आज तक मूर्च्छा के सघन वातावरण में यह इच्छा कभी पैदा नहीं हुई कि मुझे मुक्त होना है। जैसे ही मूर्च्छा में थोड़ा सा छिद्र बना वैसे ही एक नई इच्छा पदा हो गई कि मुझे मुक्त होना है। आदमी बदलता बाद में है, पहले दृष्टिकोण बदलता है। आचरण बाद में बदलता है। पहले दृष्टिकोण बदलता है। दृष्टिकोण बाद में बदलता है, पहले मूर्च्छा में छिद्र होता है। मूर्च्छा टूटती है तब दृष्टिकोण बदलता है।

आदमी दुःख का अनुभव नहीं करता। वह दुःख को सहज ही भोगता चला जा रहा है। उसे अनुभव ही नहीं हो रहा है कि दुःख है। मल का कीड़ा मल में ही प्रसन्न रहता है। उसे दुःख का अनुभव ही नहीं होता। सूअर से कहा गया कि मैं तुम्हें दूसरी योनि में बदल दूंगा। उसने कहा, मत बदलो, मुझे यहीं रहने दो। यहां मेरी पत्नी है, मेरा बच्चा है और मेरा परिवार है। इसे छोड़ भला मैं दूसरी योनि में कैसे जा सकता हूं। सूअर भी सूअर की योनि को छोड़ना नहीं चाहता और कुत्ता भी कुत्ते की योनि को छोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि उसमें मूर्च्छा है।

मूर्च्छा कितनी प्रबल होती है आदमी में कि वह हर स्थिति को सह लेता है, पर मूर्च्छा के चक्र को तोड़ नहीं सकता। बहुत जटिल स्थिति है। जब तक मूर्च्छा नहीं टूटती तब तक मुमुक्षा का भाव पैदा नहीं होता। आज हमारी समस्या है मुमुक्षा को पैदा करना। मुक्त होने की इच्छा मन में जागे। आदमी शराब पीता है। उसे छोड़ नहीं पाता है। तब तक नहीं छोड़ पाता जब तक मुमुक्षा पैदा नहीं हो जाती। बुराई से मुक्त होने की इच्छा पैदा न हो जाए तब तक हजार बार आदमी को कहें वह नहीं छोड़ पाएगा और *जिस दिन यह भावना पैदा हो जाएगी कि मुझे इस बुरी आदत से मुक्त होना* है, उसे छोड़ने में समय नहीं लगेगा। आचरण के सुधार का प्रश्न जटिल नहीं है, जटिल है दृष्टिकोण के सुधार का। दृष्टिकोण बदला और गया। हमें दृष्टिकोण को बदलना है। हृदय को बदलना है। वह बदला तो सारी दृष्टि बदल जाएगी। ठीक ही कहा है—जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।

तो आज हमारे सामने प्रश्न है मुमुक्षा का, मुक्त होने की इच्छा पैदा करने का। प्रश्न है संवेग का। जब संवेग पैदा होता है तब श्रद्धा पैदा होती है, तब यह बात समझ में आती है कि मैं दुःख से मुक्त होना चाहता हूं। और उससे मुक्त होने का उपाय है धर्म। धर्म के प्रति एक श्रद्धा पैदा हो। जब *तक मुमुक्षा नहीं है, तब तक धर्म का कोई अर्थ नहीं है। यह धर्म वैसा ही है* जैसा कि पढ़ा हुआ समाचार पत्र है। समाचार पत्र पढ़ लिया और सारी खबरें जान लीं। पढ़ने के बाद समाचार पत्र का क्या मूल्य होता है? कुछ नहीं। धर्म का क्या मूल्य है जब तक मुमुक्षा नहीं जागती। हम इस प्रश्न पर चिंतन करें कि हिन्दुस्तान में कितने लोग हैं जिनमें मुमुक्षा जागी हुई है। धार्मिकों के आंकड़े हमारे पास हैं। जैन धर्म को मानने वाले कितने लोग हैं? वैष्णव धर्म को मानने वाले कितने हैं? इस्लाम को मानने वाले कितने हैं? *क्रिश्चियन कितने हैं? सिक्ख धर्म को मानने वाले कितने हैं? आंकड़े हमारे* पास हैं। पर इसके आंकड़े हमारे पास नहीं हैं कि मुमुक्षा कितने *लोगों में जागी है। जब मुमुक्षा ही नहीं जागी तो कोरा धर्म रक्षा नहीं कर* सकता।

क्या आज धर्म की यही स्थिति नहीं है? जो लोग यह प्रश्न पूछते हैं कि इतने धर्म और फिर हिन्दुस्तान बदलता क्यों नहीं है? तो क्या उन्हें भी इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचना होगा कि वास्तव में धार्मिक लोग कितने हैं और केवल लाइसेन्स रखने वाले कितने हैं? इस बात पर पहुंच जाएंगे तो प्रश्न

जटिल नहीं होगा। उत्तर बहुत स्पष्ट है कि अनैतिकता और अप्रामाणिकता उन्हीं के सहारे चलती है जो केवल धर्म का लाइसेन्स लिए बैठे हैं। उनमें मुमुक्षा का भाव जागा नहीं है। वे धार्मिक नहीं बन पाए हैं। बहुत स्पष्ट उत्तर है। सबसे पहली बात है मुमुक्षा और वह पैदा करती है धर्म की श्रद्धा।

यह एक चक्र है—संवेग से धर्म की श्रद्धा और धर्म की श्रद्धा से संवेग। क्रम बराबर चलता रहे। पानी के एक दिन के वेग से खेती बराबर नहीं होती। कितनी बार पानी को प्रभावित करना होता है। संवेग ने श्रद्धा को जन्म दिया, श्रद्धा ने फिर संवेग को बढ़ाया। संवेग ने फिर श्रद्धा को जन्म दिया, यह चक्र चलता रहेगा। संवेग से श्रद्धा और श्रद्धा से संवेग, मुमुक्षा से धर्म की आस्था और आस्था से फिर मुमुक्षा। यह बराबर चलता रहेगा, तब दर्शन शुद्ध बनेगा। दर्शन शुद्ध तो दृष्टिकोण भी शुद्ध। उस स्थिति में परिवर्तन की बात सोची जा सकती है। अन्यथा परिवर्तन की बात हमें नहीं सोचनी चाहिए। अगर हमारा विश्वास परंपरागत धर्म में है तो करते चले जाएं किंतु यह आशा न रखें कि कोई बदलाव होगा। यदि इतने में ही संतोष है तो करते चले जाएं। पर साथ में बदलने की बात को क्यों सोचें ? यदि बदलने की बात को सोचेंगे तो सारी प्रक्रिया बदलनी होगी। बदलने की बात को नहीं सोचते हैं तो जमा जमाया धंधा है, चल ही रहा है, चलता रहेगा। उसमें फिर हम क्यों नई बात सोचते हैं ?

बदलने की बात तो तब सोची जाती है जब कोई संवेदन होता है। भीतर से कोई कुरेदता है। धर्म करते इतना समय बीत गया, किन्तु कुछ हुआ ही नहीं। होने का भी पता नहीं होता और न होने का भी पता नहीं होता। तो मानना होगा कि हम मूर्च्छा में ही धर्म की आराधना किए जा रहे हैं।

कई बार लोग कहते हैं कि होमियोपैथी दवा लें लें इससे कोई नुक्सान तो है ही नहीं। बिगड़ेगा कुछ नहीं। प्रश्न उठता है कि यदि बिगाड़ नहीं होता उससे भला कैसे हो सकता है ? जिससे भला होगा उससे नुक्सान भी हो सकता है। जहां यह कहा जाए कि इससे नुक्सान नहीं होगा तो यह समझ लें कि इससे कोई अधिक लाभ होने वाला भी नहीं है। होमियोपैथी में भयंकर रिएक्शन होता है। कौन कहता है कि रिएक्शन नहीं होता ? रिएक्शन का पता अवश्य होना चाहिए। हम धर्म की आराधना करते हैं तो हमें बद-

लाव की अनुभूति होनी चाहिए। यह अनुभूति तब होगी जब मुमुक्षा जाग जाएगी।

ये दो बातें घटित होनी चाहिए—पहले मुक्त होने का भाव और फिर धर्म के प्रति श्रद्धा का निर्माण, अभिरुचि का निर्माण। एक ऐसी अभिरुचि पैदा हो जाए कि मेरी समस्या का समाधान धर्म के सिवाय कहीं भी नहीं है। इस प्रकार की श्रद्धा का पैदा हो जाना।

आदमी समस्या का समाधान खोजता है। पर खोजता है गलत स्थान में। जहां नहीं मिलता, वहां समाधान खोजता है। भूख की समस्या का समाधान खेती में खोजा जाता है तो उचित बात है। भूख की समस्या का समाधान है खेती। प्यास की समस्या का समाधान जल स्रोतों में खोजा जाता है तो उचित है। किंतु समस्या है मन की, समस्या है क्रोध की, समस्या है अहंकार की और समस्या है भय की। समस्या है कलह की। इनका समाधान खोजा जाए पैसे में तो गलत बात है। कहां समाधान मिलेगा ? पैसा आपको अनाज की समस्या का समाधान तो दे सकता है। गांठ में पैसा है, बाजार में गए, अनाज खरीदा, ले आए, आटा पिसाया, रोटी बनाई, खाई और भूख मिट गई। यह समाधान समझ में आ सकता है। किन्तु भाई-भाई में लड़ाई चल रही है, पति-पत्नी और बाप-बेटे में लड़ाई चल रही है और समाधान पैसे में खोजा जाए तो बड़ी मूर्खता होगी। हमारा ऐसा दृष्टिकोण बन गया कि आज हर बात का समाधान पैसे में खोजा जा रहा है। लोग तो यह कहते हैं कि राजनीति सब पर हावी हो गई किन्तु वास्तविकता यह है कि पैसा सब पर हावी हो गया है। राजनीति पर भी पैसा हावी हो गया है। पैसे से राजनीति डगमगा जाती है, सत्ता डगमगा जाती है, सत्ता बदल जाती है, कुर्सियां बदल जाती हैं। सत्ता पर बैठे लोग भी डांवाडोल हो जाते हैं। यह एकछत्र साम्राज्य जो पैसे का हो गया, इसे ही समस्याओं का समाधान मान लिया, यह बड़ी समस्या पैदा हो गई।

जो लोग शिविर में आए हैं उनमें संवेग पैदा हुआ है, धर्म के प्रति श्रद्धा पैदा हुई है, दृष्टिकोण बदला है। सारी समस्या का समाधान पैसे में नहीं है। उसमें होता तो दुकान को छोड़कर यहां नहीं आते। उनका दृष्टिकोण बदला है कि समाधान पैसे में नहीं है। समाधान खोज रहे हैं अपने भीतर में। भीतर में बड़ा समाधान है। हमारी सबसे बड़ी समस्या ही यही है कि जो

समाधान का सबसे बड़ा मंदिर है उसकी हमने कभी पूजी की ही नहीं। और जहां समाधान नहीं मिलता, उसकी पूजा रात और दिन करते हैं। हमारा मंदिर बदल गया, हमारी आरती बदल गई, पद्धति बदल गई और हमारा देवता भी बदल गया। सब कुछ बदल गया। पूजा यहां करनी है, आरती यहां उतारनी है, मंदिर इसको बनाना है जिससे कि समाधान मिल सके। तो समस्या के समाधान के लिए सबसे पहला हमारा कोई इष्ट बनता है तो वह है श्वास। यह हमारा सबसे बड़ा देवता है। आप चाहे परमात्मा कहें या न कहें सबसे बड़ा देवता तो मैं कहूंगा ही। सबसे बड़ा देवता है श्वास। श्वास को बदले बिना हृदय को बदलने की बात अभी तो मैं नहीं समझ सका। यदि हम हृदय परिवर्तन की बात चाहते हैं तो श्वास की गति को बदलना ही होगा।

जो लोग गलत ढंग से श्वास लेते हैं उनसे क्या आप हत्या छुड़ाना चाहते हैं? हिंसा छुड़ाना चाहते है? अपराध छुड़ाना चाहते हैं? चोरी और डकैती छुड़ाना चाहते हैं? कभी संभव नहीं। वे बेचारे इन सारी वृत्तियों को छोटे श्वास के आधार पर तो पाल रहे हैं। जब तक छोटा श्वास चलता है तब तक वृत्तियां चलेंगी। यदि लंबा श्वास लेना शुरू कर दिया उस दिन उन वृत्तियों का आसन डगमगा जाएगा। न हिंसा रह पाएगी और न हत्या कर पाएगा, न आतंक में उतरेगा और न चोरी और डकैती में उतरेगा। सबके आसन डोल जाएंगे। सबको उत्तर मिल जाएगा और एक नए जीवन का प्रारंभ हो जाएगा। बात शायद अटपटी लगती होगी। इसलिए अट-पटी लगती होगी कि यह क्या नई बात? यह तो सुना कि अमुक मंत्र पढ़ो, यह जप करो और यह करो तब धर्म होगा। श्वास की बात तो कभी सुनी ही नहीं। श्वास के साथ धर्म की क्या बात है? जीवन के साथ तो श्वास का सम्बन्ध है कि आदमी श्वास लेता है तब तक जीवन है और श्वास नहीं लेता है तो काम समाप्त। यह बात तो सुनी है यह नियम तो जाना है किन्तु धर्म के साथ श्वास का भला क्या संबंध!

हम थोड़े गहरे में उतरें तो पता चलेगा कि आवेग और श्वास—इन दोनों में गठबन्धन और गहरा समझौता है। यह कभी टूटता नहीं है। आवेग ने श्वास से कहा—'तुम छोटे-छोटे चलो, ताकि मुझे अच्छा स्थान मिल सके। श्वास ने कहा—'मैं छोटा-छोटा चलूंगा यह तो ठीक बात है, पर तुम

आते रहना। मुझे संभालते रहना। दोनों में बड़ा समझौता है। यदि आपने इस समझौते को तोड़ दिया तो सबसे पहले धर्म की क्रान्ति होगी। धर्म की क्रांति का सबसे पहला सूत्र है, इस समझौते को तोड़ देना। यानी लम्बा श्वास लेना, दीर्घ श्वास लेना। जैसे ही आपने यह शुरू किया और समझौते का कचूमर निकलना शुरू हो गया, टूटना शुरू हो गया। जहां लम्बा श्वास शुरू होता है वहां चिंतन की सारी प्रक्रिया बदलनी शुरू हो जाती है।

यह योग का शरीर-विज्ञान है। डाक्टर की अपनी आनोटोमी है। तो योग की अपनी आनोटोमी है। यह उसका शरीर-विज्ञान है। श्वास हमारे सारे तंत्र को प्रभावित करता है। जैसे ही श्वास की गति हमने बदली, हृदय परिवर्तन का क्रम शुरू हो गया। दीर्घ श्वास का प्रयोग करते समय हम केवल यही न सोचें कि हम क्या कर रहे हैं। कौन-सा ध्यान कर रहे हैं। श्वास को देख रहे हैं, लम्बा श्वास ले रहे हैं। ध्यान हो रहा है। ऊपर से तो बात बड़ी स्थूल सी लगती है। और स्थूल दृष्टि वाला आदमी स्थूल बात को पकड़ता है। पर उसके भीतर सूक्ष्म बात को पकड़ें कि यह दीर्घ-श्वास का प्रयत्न कषाय के अभेद्य चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयत्न है और यह अभिमन्यु है जो चक्रव्यूह में घुस जाएगा। यह दूसरे प्रकार का अभिमन्यु है। यह केवल घुसेगा ही नहीं, निकल भी जाएगा। अभिमन्यु घुसा ही था, निकल नहीं सका। पर यह श्वास का अभिमन्यु ऐसा है कि चक्रव्यूह में घुसेगा भी और लौट भी आएगा।

प्रश्न है अनासक्ति का

आंख है। हम देखते हैं। कान हैं। हम सुनते हैं। वर्ण है इसलिए देखते हैं और शब्द हैं इसलिए सुनते हैं। तीन का योग मिला आंख, वर्ण और देखने वाला। देखना कोई समस्या नहीं है। रूप का होना कोई समस्या नहीं है। इन्द्रिय का होना कोई समस्या नही है। देखा, उससे चिपट गया, वहीं समस्या पैदा हो गई। आदमी बन्धा हुआ है और बांधने वाला कोई भीतर बैठा है। एक कोई गोंद है जो चिपक जाता है।

गुजरात के एक संत अभी-अभी हुए हैं। उनका नाम था रविशंकर महाराज। बड़े प्रसिद्ध। उनका जीवन सार्वजनिक सेवा में बीता। एक ठाकुर आया और बोला, 'महाराज! मैं शराब को छोड़ नहीं सकता।' उन्होंने कहा 'भाई! क्यों नहीं छोड़ सकते?' वह बोला—'शराब ने मुझे इतना पकड़ लिया है कि मैं शराब को छोड़ नहीं सकता। कोई उपाय हो तो बताएं।' उन्होंने कहा, 'दो-चार दिन बाद आना, उपाय बताऊंगा।' वह चला गया। दो-चार दिन के बाद वह आया। जैसे ही भीतर घुसा उसने रविशंकर महाराज को देखा तो वे खंभे को पकड़कर खड़े हुए थे। ठाकुर बोला, 'आप आएं आपसे बात करना चाहता हूं।' वे बोले—'मैं आ नहीं सकता, क्योंकि खंभे ने मुझे पकड़ लिया है।' ठाकुर बोला—'कैसी बात कर रहे हैं आप, खंभा भी कभी पकड़ सकता है?' वे बोले, 'ठीक ही कह रहा हूं' बाहर नही आ सकता।' वह बोला, 'महाराज! आप इतना भी नही समझ पाए कि आपने खंभे को पकड़ रखा है, न कि खंभे ने आपको।' वे बोले, तुम सच कहते हो। ठाकुर बोला, आप छोड़ दें, छूट जाएंगे इससे। तत्काल हाथों को फैलाया और खंभा छूट गया, बाहर आ गए। फिर बोले कि यह मेरे लिए है या तुम्हारे लिए भी है? यह नियम मुझ पर ही काम करेगा या तुम्हारे पर भी काम करेगा? तुमने शराब को पकड़ा है, शराब ने तुम्हें नही पकड़ा है। उसको बात समझ मे आ गई कि शराब ने मुझे नही पकड़ा है, मैंने शराब को पकड़ रखा है।

पकड़ने वाला कोई भीतर बैठा है जो पदार्थ को पकड़ लेता है। पदार्थ

आदमी को नहीं पकड़ता, आदमी पदार्थ को पकड़ लेता है। जो पकड़ने वाला है उसे खोजना है। कौन पकड़ रहा है? कौन गोंद है, जो हाथ लगते ही चिपक जाता है? वह क्या है? उसको खोजा गया और वह है राग। एक राग का संस्कार है मनुष्य के भीतर। आसक्ति का संस्कार है मनुष्य के भीतर। जो सब को पकड़ता चला जा रहा है। जो भी आया उसे पकड़ लिया। पकड़ता जा रहा है। इन्द्रियां माध्यम बनती हैं। इन्द्रियों का कोई दोष नहीं है। एक माध्यम है कि सामने रूप आया, रंग आया, आंख बेचारी का क्या दोष है! आख का काम तो था देखना और जानना। उसने बेचारी ने अपना काम किया। आंख पकड़ने वाली नहीं है। जीभ पकड़ने वाली नहीं है। जीभ पर कोई चीज रखी, स्वाद आया उसका कोई दोष नहीं है। जैसा था वैसा बता दिया। इतना ही तो काम था। न तो आंख पकड़ने वाली है और न जीभ पकड़ने वाली है। पकड़ने वाला कोई दूसरा ही है। वह है राग का संस्कार। एक हमारे भीतर ऐसा संस्कार है जो पकड़ लेता है। उस संस्कार का नाम है राग या आसक्ति। राग पकड़ता है। जब पकड़ने वाले को खोज लिया गया तो यही खोजा गया कि वह क्या उपाय है जिसके द्वारा पदार्थ को पदार्थ के रूप में ग्रहण करें, जिसमें पकड़ न हो, चिपकाव न हो। क्या यह संभव है, कि हमारे लिए पदार्थ पदार्थ हो, और न हो। एक बहुत बड़ा सत्य खोजा गया। यह हो सकता है। यह संभव है कि पदार्थ पदार्थ रहे और कुछ पहले पीछे न जुड़े।

राग सक्रिय है और जीभ पर कोई चीज आई, ओह! कितनी अच्छी है। बढ़िया है। चीज आई, कितनी खराब! कितनी गंदी! ये दो बातें क्यों जुड़ी? अच्छा और बुरा क्यों जुड़ा? पदार्थ न तो अपने आप में अच्छा होता है और न अपने आप में बुरा होता है। फिर यह अच्छा और बुरा, प्रिय और अप्रिय—ये विशेषण क्यों जुड़े? ये शब्द जुड़े इसीलिए कि जोड़ने वाला कोई भीतर बैठा है। पदार्थ अपने आप में कोई अच्छा-बुरा नहीं है। अच्छा-बुरा मानने वाला और अच्छा-बुरा विशेषण जोड़ने वाला कोई भीतर बैठा है।

अगर हम उसको पकड़ लें तब तो हम एक नए जगत् में प्रवेश पा सकते हैं। और जब तक उसको नहीं पकड़ सकेंगे, तब तक अच्छाई और बुराई के जगत् से हमारा छुटकारा नहीं हो सकता। इस जगत् का नाम है इन्द्रिय जगत्। और जहां पदार्थ पदार्थ रहता है बाकी कुछ भी नहीं बचता, उस जगत् का नाम है अतीन्द्रिय जगत्। इन्द्रिय से परे का जगत्।

इस इन्द्रिय जगत् में रहने वाला व्यक्ति इस समस्या का भी समाधान नहीं कर सकता। हमेशा उलझा रहेगा प्रियता में और अप्रियता में, अच्छे और बुरे में। चक्कर में उलझा ही रहेगा वह। कभी भी मुक्ति पा ही नहीं सकेगा। और इसका अर्थ है कि उसका सुख डांवाडोल रहता है। आज रसोई अच्छी बनी बड़ा सुख मिला। बड़ी प्रशंसा कर दी। और कल रसोई बनाने वाली नमक डालना भूल गई, क्रोध भभक उठा। नमक ज्यादा डाल दिया तो उत्तेजना आ गई। सुख का अनुभव हो नहीं सकता। इसीलिए एक उपाय खोजा गया, और उस उपाय का नाम है विराग। राग और विराग। राग को बदला जा सकता है और विराग किया जा सकता है, वैराग्य का निर्माण किया जा सकता है। मनोविज्ञान ने मौलिक मनोवृत्तियों का प्रतिपादन किया कि मनुष्य में कुछ मौलिक मनोवृत्तियां होती हैं। भूख, प्यास, काम, लड़ना आदि चौदह मौलिक मनोवृत्तियां बतलाई हैं। दर्शन की भाषा में कहें तो मनुष्य मे कर्म का संस्कार होता है। हम बन्धे हुए हैं। मनोविज्ञान की भाषा में मौलिक मनोवृत्ति से बन्धे हुए है और दर्शन की भाषा में कर्म-संस्कार से बन्धे हुए हैं। वह राग अपना काम कर रहा है और हम उसके चलाए चल रहे हैं। फिर कैसे परिवर्तन की बात को सोचें? कैसे व्यक्ति बदले और कैसे समाज बदले? कैसे धारणाएं बदलें और कैसे जीवन की शैली बदले?

कर्म का सिद्धान्त है कि कर्म-संस्कारों को बदला जा सकता है। मनोविज्ञान का भी सिद्धान्त है कि मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार किया जा सकता है। अगर बदलने की और परिष्कार करने की बात नहीं होती तो आदमी जैसा है वैसा का वैसा रहता, कोई परिवर्तन नहीं आता। हम देखते हैं कि आदमी बदलता है। अच्छा आदमी बुरा बन जाता है और बुरा आदमी अच्छा बन जाता है। यह भारी परिवर्तन है। एक आदमी एक दिन की भूख को सहन नहीं कर सकता। भूख एक मौलिक मनोवृत्ति है। भूख कर्मशास्त्रीय भाषा में वेदनीय कर्म का उदय है। एक आदमी एक दिन भूखा नहीं रह सकता, किन्तु परिवर्तन ऐसा आता है कि वह पचास दिन की तपस्या कर लेता है। एक ऐसा आदमी है, जिसे दस आदमियों के बीच सोते-सोते को डर लगता है। आदमी अकेला नहीं सो सकता। सोएगा तो चारों तरफ कोई न कोई सोने वाला चाहिए। चारों ओर सोएंगे तब तो अपने आपको सुरक्षित मानेगा, नहीं तो डर लगेगा। डर यह कि कोई आ न जाए। कभी-कभी ऐसा होता है, वही व्यक्ति रात को बारह बजे श्मशान में जाकर साधना करता है। यह परिवर्तन

कहां से आया ? एक व्यक्ति पैर में कांटा चुभ जाए तो चिल्लाने लग जाता है और वही व्यक्ति भयंकर से भयंकर यातना कोई दे, प्राणघातक शस्त्र का प्रयोग कोई कर दे तो शांत और गम्भीर खड़ा रहता है। यह परिवर्तन कहां से आया ? यानी भूख-विजय, शस्त्र-विजय, भय-विजय आदमी कर सकता है। यह कैसे हो सकता है ? राग और विराग दोनों सच्चाइयां हैं। राग भी एक सच्चाई है जो कि आदमी के जीवन को प्रभावित करती है और विराग भी एक सचाई है। हमने अपने अभ्यास के द्वारा राग का अर्जन किया है और आदत का रूप दिया है। हम अपने अभ्यास के द्वारा विराग का अर्जन कर सकते हैं और उसे अपनी आदत बना सकते हैं। इस बिन्दु पर आकर कि मैंने अपनी आदतों का निर्माण किया है, उसके पीछे कारक और घटक तत्त्व कौन हैं ? अगर मैं कारक और घटक तत्त्वों को बदल दूं तो नयी आदतों का निर्माण कर सकता हूं। यह हमारी आस्था बने कि पुरानी आदतों को मिटाया जा सकता है, नयी आदतों का निर्माण किया जा सकता है। पुरानी आदतें हमने अपने अभ्यास के द्वारा बनाई थीं और नयी आदतें अपने अभ्यास के द्वारा बना सकते हैं। यह दोनों बातें बहुत संभव हैं। अब आदत, आदत के पीछे अभ्यास और अभ्यास के पीछे कारक तत्त्व तक एक शृंखला बन जाती है। आप आदत को नहीं बदल सकते जब तक कि आपका अभ्यास इसके साथ नहीं जुड़ जाता। आप अभ्यास भी नहीं कर सकते जब तक कि कारक तत्त्व नहीं बदल जाता। मूल को पकड़ना है, छाया को नहीं। मूल को पकड़ो, छाया अपने आप पकड़ में आ जाएगी। हम लोग सीधा उपदेश करते हैं—तम्बाकू पीने की आदत है तो तम्बाकू पीना छोड़ दो, शराब पीने की आदत है तो शराब पीना छोड़ दो, मिठाई खाने की आदत है तो मिठाई खाना छोड़ दो। जो आदत है उस आदत को छुड़वाना चाहते हैं। मुझे लगता है कि यह काम बहुत सरल नहीं है। वह शराब को छोड़ देगा पर जब समय आएगा भीतर से खींचाव पैदा होगा, सारी नसें टूटने लग जाएंगी। वह छुप-छुपकर शराब पी लेता है। तम्बाकू की भी यही बात है। आदत नहीं बदलती। आदत बदलने के लिए बहुत लम्बा अभ्यास करना होगा। अभ्यास होता है तब आदत में परिवर्तन संभव है। और उस अभ्यास के पीछे पहले ध्यान देना होता है कि मूल कारक तत्त्व क्या है ? अध्यात्मिक आचार्यों ने इस बात पर ध्यान दिया और उन्होंने तत्त्वों को खोजा। वह कारक तत्त्व है—निर्वेद। आदत को बदलने का बहुत बड़ा घटक या मूल स्रोत है निर्वेद—अनासक्ति। जब तक

निर्वेद नही हो जाता, वेदन का सूत्र नहीं टूट जाता, आदत नही बदल सकती। वेदना हमारा जुड़ा हुआ है, संवेदन हमारा जुडा हुआ है। अनुभूति का भाग जुड़ा हुआ है। तब यह नही हो सकता। जैसे—किसी बच्चे से कहा—यह चीज तुम मत खाओ। तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। उसने कहा—ठीक है, छोड़ दूगा। वेदन छूटा नहीं, वेदना का धागा टूटा नही। फिर कहा—एक बार चख लूं। बच्चे का क्या बड़े-बड़े लोग कहते हैं—कल से यह छोड़ना है आज तो जी भर कर खा लूं। वेदन तो छूटा नहीं। अब कल का मतलब आज जितना खा सकूं खा लें। कल कैसे छूटेगा? बात कैसे सभव होगी? बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं। जी में आता है कल उपवास करना है, कल भूखे रहना है। आज ऐसा 'धारणा' करें कि दो दिन भूख ही न लगे। यह बात आती है, इसका मतलब उपवास तो किया परन्तु निर्वेद नही है। वेदना का धागा टूटा नही। जब तक संवेदन का सूत्र जुड़ा रहेगा तब तक आदत को बदला नही जा सकता। आदत को बदलने का सूत्र होता है, उस विषय के साथ संवेदन के धागे को काट डालना। यह तो बराबर बंधा हुआ है। आप आज नही करें तो कल मन मे लालसा जाग जाएगी, कल नही करें तो परसों जाग जाएगी। जब तक कारण विद्यमान है, यह सभव नही होता। महत्वपूर्ण शब्द का चुनाव है—निर्वेद, मानो वेदन नहीं, उसका अनुभव नहीं। ऐसा मानो, कभी उसका अनुभव किया ही नही था। संवेदन नहीं है उसका। आपने चीनी का स्वाद चखा है। अभी मुह में चीनी तो नही है, पर स्वाद याद है कि स्वाद कैसा होता है? आपने केला खाया है, आम खाया है। आम का मौसम चला गया। आम का स्वाद याद है। क्योंकि संवेदन तो जुड़ा हुआ है। पदार्थ का होना या न होना अलग बात है पर संवेदन का होना मुख्य बात है। संवेदन छूटा या नही छूटा यह मुख्य बात है। पदार्थ छूटा या नहीं छूटा यह गौण बात है। क्या कोई आदमी रोज सब पदार्थों को खाता है? कोई नही खाता और खाये तो दूसरे दिन खा ही नहीं सकता। यदि सब पदार्थों को वह एक दिन खा जाये तो दूसरे दिन वह नहीं खा सकता। आदमी नही खाता, किन्तु सारे के सारे संवेदन जुड़े हुए हैं, सब संवेदन को ताजा बनाये हुए हैं। हमारा मस्तिष्क ऐसा है कि संवेदनों को पकड़े हुए है। आखिर बद-लना क्या है? आदत को नहीं बदलना है। उसे बदलना है जो आदत को चला रहा है। सारी आदतों का संचालन मस्तिष्क से हो रहा है। तो मस्तिष्क को बदलना है। मानसिक प्रशिक्षण! मन को प्रशिक्षित करना है। यह आज की

भाषा है और पुरानी भाषा है संस्कारों को बदलना। निर्वेद करना है। निर्वेद यानी वेदना के सूत्र को तोड़ देना। पदार्थ और हमारी लालसा दोनों का अर्थ क्या है? हमें पदार्थ दिखाई दे रहा है। यह आम है और यह केला। और उनके प्रति वह लालसा है, आसक्ति है, वह दिखाई दे रही है। जैसे ही पदार्थ सामने आया और एक प्रकार की भावना पैदा हो गई। यह दोनों तो दिखाई दे रहे हैं परन्तु इनके बीच में जो सूक्ष्म धागा है वह दिखाई नहीं दे रहा है, और वह है वेदना का धागा।

निर्वेद आदत को बदलने का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है। वेदन नहीं रहा, अनुभूति नहीं रही, ऐसा लगा कि जैसे किया ही नहीं। अनुभव को ही काट दिया, तब आदमी कहीं बदल सकता है। इन्द्रिय विषयों के प्रति अनासक्ति आ सकती है। यह तभी संभव है जब राग का स्थान विराग ले ले, निर्वेद ले ले। निर्वेद जब आ गया, सूत्र कट गया। चाहे वैसी चीज आ जाए, मन नहीं ललचायेगा। कोई फर्क नहीं पड़ेगा। हम लोग जाते हैं—रास्ते में कभी-कभी एक अच्छी धनराशि पड़ी मिल जाती है। पर कभी मन में कल्पना ही नहीं उठती की उसे उठाया जाए। ऐसा प्रसंग आता है कि ऐसे मकान में सोते हैं, ऐसे कमरे में सोते हैं जहां पच्चास लाख, करोड़ का जवाहरात और सम्पदा पड़ी रहती है। पर कभी मन में कोई तरंग ही नहीं उठती। इसका कारण है कि जो कारक तत्त्व था वह बदल गया। कारक तत्त्व बदला, आदर्श बदल गया। यानी उस अनुभूति पर मस्तिष्क चेतना पहुंच गयी कि यह हमारे लिए व्यर्थ है। व्यर्थ चीज को कोई नहीं उठाता। आदमी उसी चीज को उठाता है जो सार्थक है। कारक जो बदल गया तो आदत वैसी होती ही नहीं। बहुत बड़ा प्रश्न है—किसको बदलना है? आदत को बदलना है या कारक तत्त्व को बदलना है? हमें कारक तत्त्व को बदलना है। आदत का जो स्रोत है उसे बदलना है, जड़ को बदलना है। हम ध्यान का प्रयोग आदतों को बदलने के लिए नहीं करते। ध्यान से आदत नहीं बदलती। यह तो हमें दिखाई देता है कि आदत बदल गई, स्वभाव बदल गया। आदत बदलना और स्वभाव बदलना यदि इतना ही काम ध्यान का हो तो छोटी बात होगी। आदत बदल गई और कारक बैठा है, फिर हरी हो जाएगी। जब जड़ विद्यमान है और पानी बरसा फिर हरी हो जाएगी। जब पतझड़ आया झड़ जाएगा और फिर बसंत आया तो फिर पत्तों से भर जाएगा। हमें यह काम नहीं करना है। हमें वह कार्य करना है जिससे आदत को हरा करने वाला, आदत को अंकुरित

करने वाला जो कारक तत्त्व है, वह बदल जाए। यानी भीतर तक पहुंचना है। प्रेक्षाध्यान के शिविर में शरीर को देखना सिखाया जाता है। पढ़ा पढ़ाया पाठ नहीं पढ़ाया जा रहा है। नई बात पढाई जा रही है और सिखाई जा रही है। शरीर को देखना नही हैं। शरीर के माध्यम से भीतर देखने का अभ्यास करना है। शरीर को तो एक आलंबन बना लो, माध्यम बना लो। देखना उसके भीतर है। हम कम से कम भीतर में जाना तो सीखें। देखना तो सीखें। उसका मात्र बाहरी चक्कर तो न लगाएं। उसके आरपार क्या है और उसके भीतर क्या है यह देखें। केवल बाहर चमड़ी पर ही चक्कर न लगाएं और उसकी परिक्रमा न करें। प्रश्न होता है कि है ही क्या शरीर के भीतर? हड्डियां, मांस, रक्त, मज्जा—इनके सिवाय और भीतर है क्या? किसे देखना है? यह प्रश्न मन को कुरेदता है। शरीर-प्रेक्षा में जो देखना है वह न तो हड्डियों को देखना है, न मांस को देखना है, न रक्त को देखना है और न मज्जा को देखना है, न नाड़ीतंत्र को देखना है और न ग्रन्थितंत्र को देखना है। कुछ और ही देखना है। भीतर में वह देखना है जो हमारी आदतों को चला रहा है। जो हमसे काम करवा रहा है उसे देखना है। वह क्या है? वह है प्रकम्पन। हमारे शरीर के भीतर इतने प्रकम्पन हैं, इतनी तरंगें है, वे सारा काम करवा रही हैं। उनको देखना है और उनको पकड़ना है। और वे तरंगें वेद के द्वारा आ रही हैं। भीतर जो वेद है, अनुभूति है, वह अनुभूति अपनी तरंगों को प्रेषित कर रही है और वे तरंगें हमारे बाहर तक पहुंच रही हैं। उनसे हमारी सारी गतिविधियां चल रही हैं। आदमी झूठ बोलता है, उसके पीछे तरंग काम कर रही। कोई आदमी चोरी करता है, उसके पीछे तरंग काम करती है। कोई आदमी हत्या करता है और हिंसा करता है, उसके पीछे तरंग काम करती है। इतनी ऊर्मियां कि एक समुद्र से कम ऊर्मियां नहीं हैं। जितनी लहरें समुद्र मे होती हैं उनसे ज्यादा तरंगें आपके इस छोटे से शरीर में होती हैं। यह भी तो समुद्र ही है।

मेडिकल साइंस बताता है कि हमारे शरीर में ८० प्रतिशत पानी है। अब आप क्या कल्पना करेंगे? शेष २० प्रतिशत है। तो शरीर पानी का ही पुतला है। और समुद्र से कम नही है। इतना बड़ा समुद्र और इतनी ऊर्मियां, जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती।

शरीर-प्रेक्षा का अर्थ है उन ऊर्मियों को देखना जो हमारी प्रवृत्तियों का संचालन कर रही हैं। वह जैविक रासायनिक प्रक्रिया है, जो विभिन्न प्रकार

के रसायन—केमीकल पैदा होते हैं और उनके द्वारा नाना प्रकार के परिवर्तन और परिणमन घटित होते हैं, नाना प्रकार के पर्याय बदलते हैं। हमे उन पर्यायो को देखना है। किस प्रकार कर परिणमन हो रहा है और किस प्रकार की वृत्ति पैदा हो रही है इसे हमें देखना है।

हमे प्रकम्पनों को देखना है, शरीर के प्रकम्पनों का अनुभव करना है कि कौन सा प्रकम्पन हो रहा है। कहां हो रहा है और किस प्रकार का हो रहा है। यदि यह प्रकम्पन को पकड़ने की बात समझ मे आ जाए तो हम वेद से निर्वेद की अवस्था में जा सकते हैं।

इन्द्रिय-विषयों का विराग उसी अवस्था में संभव है जब प्रकम्पनों की बात पकड़ में आ जाए। और यह समझ में आ जाए कि अरे! मैं यह काम क्यों करूं! यह तो एक तरंग करा रही है। मैं उसे क्यों महत्त्व दूं, तो विराग आ सकता है। जब वेद की बात समझ में आ जाए और यह समझ मे आ जाए कि मुझे कठपुतली नही बनना है तो विराग आ सकता है। आता है, यह कोई असंभव बात नहीं है।

संन्यासी के पास एक भाई आकर बोला—'मैं साधना करना चाहता हूं। आप मुझे कोई गुर बताएं।' संन्यासी ने कहा—जो नगर का राजा है, उसके पास जाओ। वहां साधना का सूत्र तुम्हे मिल जाएगा।' वह बोला—'भला, राजा के पास जाकर क्या करूंगा! यदि राजा के पास ही साधना का गुर होता तो संन्यासी आप बने ही क्यों?' संन्यासी बोला—'वाद-विवाद नही, तुम चले जाओ।' राजा अपने कार्य में लीन था, राज्य-संचालन में लगा हुआ था। वह जाकर बोला—'संन्यासी ने मुझे भेजा है। मुझे साधना का सूत्र बताओ।' दिन भर बैठा रहा और देखा कि राजा ने उसे बैठ जाने को ही कहा था। उसने देखा, राजा तो दिन भर कार्य में व्यस्त है सारी व्यवस्था का संचालन कर रहा है। राज्य की कार्यवाही संपन्न हुई। राजा ने कहा—'चलो, स्नान करने चलें।' वह राजा के साथ चला और सोचा कि संन्यासी भी बड़ा विचित्र आदमी है। किस बहुधन्धी आदमी के पास मुझे भेजा है। इससे साधना की बात मुझे क्या मिलेगी! पर आखिर करे क्या, वह राजा के साथ गया। महल के पीछे नदी बह रही थी। नदी मे दोनों उतरे। देखते हैं, कि महल में आग लग गई है। देखा, राजा तो खड़ा है। उसने कहा—'महाराज! आपके महल मे तो आग लग गई।' राजा ने कहा—'कोई बात नही।' राजा ने ध्यान ही नही दिया तो वह वहां से दौड़ा, क्योंकि महल में वह अपना थैला भूल आया था। उसने सोचा, मेरा थैला कहीं जल

न जाए। उसने अपना थेला लिया, फिर नदी पर आकर बोला—'महाराज! आग तो आगे बढ़ रही है।' राजा ने फिर भी ध्यान नहीं दिया।' आग अपने आप बुझ गई। उसने कहा—,महाराज! आपने आग पर ध्यान ही नहीं दिया?' राजा ने कहा—'मैं तो ध्यान दे चुका और संवेदन के सूत्र को काट चुका। महल महल है और मैं मैं हूं। फिर जले तो क्या और न जले तो क्या!' उस व्यक्ति ने कान पकड़ा। उसे साधना का सूत्र समझ में आ गया कि थेले के लिए तो मैं दौड़ा-दौड़ा गया और राजा ने महल की भी कोई चिन्ता नहीं की। उसे साधना का गुर समझ मे आ गया।

जब तक संवेदना का सूत्र नहीं टूटता तब तक आदमी पदार्थ से जुड़ा रहेगा, चिपका रहेगा। प्रेक्षाध्यान का महत्वपूर्ण सूत्र है संवेदना के सूत्र को काटना। उसे काटने के लिए अपने प्रकम्पनों को पकड़ना होगा भीतर में जाकर। जो भीतर से प्रकम्पन आ रहे हैं सूक्ष्मतर शरीर से, उन प्रकम्पनों को पकड़ना और उनका विच्छेद करना, यह साधना का, आदतों को बदलने का और स्वभाव को बदलने का महत्वपूर्ण सूत्र है। यदि आप क्रोध की आदत को बदलना चाहते हैं तो उसे पकड़ें; जो तरंगें आकर आपके दिमाग को गरम बनाती हैं, आपके क्रोध के संवेदन-तंतु को उत्तेजित करती हैं। उसे पकड पाएंगे तो यह निर्वेद की अवस्था होगी और ऐसा होने पर ही विराग की अवस्था का विकास होगा और विराग की अवस्था होने पर ही आदत के परिवर्तन का मार्ग मिल सकेगा।

दो मार्ग हैं हमारे सामने। एक है संसार का मार्ग और दूसरा है सिद्धि का मार्ग। संसार का मार्ग है आदत का मार्ग। मोक्ष का मार्ग है आदत को बदलने की शक्ति का मार्ग, आदत को बदलने की क्षमता का मार्ग। संसार की सामान्य भाषा मे हम उलझे हुये हैं। जन्म-मरण का चक्र है वह संसार है और इससे छुटकारा पाना मोक्ष है। संसार से छुटकारा पाना तो दूर है, अभी आदतों से तो छुटकारा पाया ही नहीं है। कहां से कहां तक पहुंच जाते हैं। जो सामने है वह तो दिखाई ही नहीं दे रहा है और हम दूर तक पहुंच जाते हैं।

हम इस वास्तविक परिभाषा पर ध्यान दें कि संसार है आदतों का मार्ग। संसार है आदतों के घेरे मे जीना। आदतों को बदलने की शक्ति को पा लेना—यह है मोक्ष का मार्ग।

प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया वेदना के धागे को तोड़ने का एक मार्ग है। इसे प्राप्त कर हम अपने आपको बदलने की क्षमता को प्राप्त करें।

प्रश्न है सुखवाद या सुविधावाद का

प्रातःकाल सूर्योदय के बाद हम इस नीडं के भवन के सामने से गुजर रहे थे। हमने देखा कि सब व्यक्ति आसन की मुद्रा में खड़े थे। मन में प्रश्न उभरा कि ये शिविर में क्यों आए हैं? मजे से अपने घर में बैठे थे, कोई कष्ट नहीं था। सुबह होते ही सीधे नाश्ते पर जाते, दूध पर जाते। यह घंटा भर ऊठ-बैठ क्यों! ये आसन क्यों? शरीर को इतना कष्ट क्यों! गैरेज में बैठे हैं। घर में अच्छी सुविधाएं और अच्छा कमरा, यहां तो एक-एक कमरे में कइयों को एक साथ ठहराया गया है। उस सुविधा को ये छोड़कर यहां क्यों आए हैं? सुविधा को क्यों छोड़ा है? प्रश्न उभरता है। आदमी अधिक से अधिक सुख चाहता है, सुविधा चाहता है। युग का दृष्टिकोण ही ऐसा बन गया और आचारशास्त्रीय दर्शन की धारा बन गई सुखवाद। सुख में रहना, सुख देना और सुख पाना। युग का दृष्टिकोण बन गया सुविधावाद। अधिकतम सुविधाएं उपलब्ध करना और कराना। कोई एम०एल०ए० के चुनाव में विजयी होगा और कोई एम०पी० के चुनाव में विजयी होगा तो सबसे पहला वक्तव्य देगा कि अधिक से अधिक सुविधाएं मेरे चुनाव क्षेत्र में उपलब्ध कराऊंगा। चाहे सात जन्म में भी न कराए, पर कहेगा यही। चुनाव का घोषणा पत्र भी होगा तो उसमें भी अधिक से अधिक सुविधा देने का आश्वासन होगा। इसका अर्थ हुआ कि आदमी सुविधा चाहता है और सुविधा के नाम पर उसे जब चाहे खरीदा जा सकता है। सुविधा दूंगा, फिर चाहे उससे कुछ भी करवा लिया जाए। ये सुखवाद की धारणाएं और सुविधावाद के दृष्टिकोण शायद भला नहीं कर रहे हैं, ज्यादा भटका रहे हैं। सुख मिलना एक बात है और सुविधावादी होना बिल्कुल दूसरी बात है। सहज सुख मिलता है तो मिलता है। कोई हमारा उससे वैर-विरोध तो है नहीं कि सुख आए ही नहीं। और यह सम्भव भी नहीं। आदमी की प्रकृति है कि वह सारा पुरुषार्थ सुख के लिए करता है। किन्तु सुखवाद एक अलग चीज है। सुविधावाद बिल्कुल दूसरी चीज है। हम प्रश्न के मूल पर जाएं। किसे सुख मिलता है सोचें! उस व्यक्ति को सुख मिलता है जो श्रम करता है, जो तपस्या करता है। कुछ से सुख नहीं

मिलता। आराम से सुख कभी नहीं मिलता। सुख उसे ही प्राप्त होता है जो श्रम करता है। सुख श्रम की निष्पत्ति है। किन्तु सुख स्वयं में सुख नहीं है। स्वयं स्वयं का हेतु नही है। एक परिणाम है। हम कारण को छोड़ देते हैं और कोरा पाना चाहते हैं। बीज तो बोते ही नही और फल को पाना चाहते हैं। पेड़ तो लगाया ही नही और फल को पाना चाहते हैं। आसन इसीलिए करते हैं कि शरीर स्वस्थ रहे, मन स्वस्थ रहे। यदि शरीर को स्वस्थ रखना है और मन को स्वस्थ रखना है तो पहले श्रम करना होगा। श्रम के बिना शरीर में रक्त का संचार भी व्यवस्थित नहीं होगा। रक्त का संचार नही होगा तो शरीर पीडा देगा। शरीर सुख भी देता है और शरीर पीड़ा भी देता है। जोइंट में दर्द, सिर में दर्द होता रहता है। दर्द वहां पैदा होता है जहां संचार की व्यवस्था ठीक नही रहती। दर्द वहीं पैदा होता है फिर चाहे वह धन का संचार हो, चाहे रक्त का संचार हो, चाहे जल का संचार हो, किसी का संचार हो, संचार की व्यवस्था गड़बड़ा जाती है वहां समस्याएं पैदा हो जाती हैं। अवरोध आता है। चाहे सामाजिक जीवन हो, चाहे व्यक्ति का जीवन हो, चाहे राष्ट्रीय जीवन हो, जहां संचार मे अवरोध आया वही दर्द पैदा हो जाएगा। आज समाज में भी दर्द है और पीड़ा है, व्यक्ति मे भी दर्द है और पीड़ा है, शरीर में भी दर्द और पीड़ा है। छोटे-छोटे बच्चे के शरीर मे भी दर्द है और पीड़ा है। शिविर में भी एक बच्चा है, युवक नही हुआ है, युवक की दहलीज पर है, उसे उठते-बैठते देखकर मन में एक अनुकम्पा का भाव जागता है। उसको पीड़ा है, क्योंकि रक्त का ठीक से संचार नहीं हो रहा है। उसके संचार की प्रणाली स्वस्थ नहीं है। इसलिए संधियां पीड़ा करने लग जाती हैं, अवरोध आने लग जाते हैं। पीड़ा है पर पीड़ा क्यों है? यह दर्द क्यों है, कि श्रम नहीं है। हम रक्त को ठीक पहुंचाना नहीं चाहते। श्रम के अभाव में यह सब हो रहा है। कुछ ऐसी मान्यताए बन गई और कुछ गलत धारणाएं बन गई कि आदमी सीधा सुख पाना चाहता है, श्रम करना नहीं चाहता। शरीर को कष्ट देना नही चाहता। कष्ट देना बहुत जरूरी है। कष्ट दिए बिना शरीर नहीं सधता और कार्यसिद्धि नहीं होती। कष्ट दिए बिना वाक्‌सिद्धि नहीं होती। कष्ट दिए बिना मानसिक सिद्धि नहीं होती, मन सधता नही। जो सधा हुआ नही होता—मन, वचन और शरीर, वह स्वयं कष्ट देने लग जाता है। सधा हुआ मन, वचन और शरीर सुख देता है और नही सधा हुआ स्वयं पीड़ा देने लग जाता है। पर कुछ गलत

मान्यताओं के कारण आदमी श्रम से जी चुराता है। श्रम करने के कार्य को छोटा काम मानता हूँ। बड़प्पन नहीं मानता।

एक भारतीय व्यक्ति अमेरिका में गया, पढ़ा लिखा आदमी था, विद्वान् था, त्यागी था, सब कुछ था, पर गलत मान्यताएं थीं। एक दिन अपेक्षा हुई। वह मोची की दूकान पर गया। जाकर बोला लो, मेरे जूते गांठ दो। युवक था। दूकानदार बोला—'मैं अभी बड़ा व्यस्त हूं।' मेरे पास बहुत काम है। तुम यह सूई-धागा लो और स्वयं गाठ लो।' यह कहते ही यह चौंका और बोला कि क्या तुम नहीं जानते कि मैं इतना बड़ा विद्वान् हूं। क्या मैं अमेरिका में जूते गांठने आया हूं? उस मोची ने शान्त भाव से सुना और फिर बोला, ऐसा लगता है कि तुम भारतीय हो। नए-नए ही अमेरिका में आए हो। रीति-रिवाजों से, और यहां के वातावरण से तुम परिचित नहीं हो। तीसरी बात कही कि मैं University का M.A. का विद्यार्थी हूं। और तुम्हें यह भी पता होना चाहिए कि मैं धनाढ्य पिता का बेटा हूं, किन्तु प्रारम्भ से ही मुझे यह पाठ पढ़ाया गया कि दूसरों की सम्पत्ति पर मत रहो। अपने श्रम से धन कमाओ और उसका भोग करो। भला एक धनवान पिता का पुत्र क्या मोची का काम करेगा? क्या धनवान पिता का पुत्र कोई छोटा-मोटा काम करेगा? क्या पढ़ा-लिखा आदमी ऐसा काम करेगा? इन गलत मान्यताओं और धारणाओं ने दर्द समाज में पैदा कर दिया। और दृष्टिकोण ऐसा बन गया कि सीधा सुख मिल जाए, कुछ करने की जरूरत नहीं। साधु-संन्यासियों के पास बहुत सारे लोग जाते हैं। हजारों-हजारों, लाखों-लाखों हिन्दुस्तानी जाते हैं। वंदना करते हैं, आशीर्वाद मांगते हैं, आशीर्वाद मांगते हैं कि बस सीधा धन मिल जाए।

जब तक यह मिथ्याधारणा, मिथ्यादृष्टिकोण नहीं बदलता, तब तक विकास नहीं हो सकता। सारे विश्व के संदर्भ में देखें, आज वे राष्ट्र समृद्धिशाली बने हैं जिन्होंने कठोर श्रम किया है, कर रहे हैं। उन्होंने पदार्थ के क्षेत्र में काफी विकास किया है। अपनी धाक जमाई है। जो श्रम से जी चुराते हैं, श्रम से कतराते हैं और पड़े रहते हैं, बस आराम करना और पड़े रहना ताकि ज्यादा से ज्यादा खाट को तोड़ सकें उसमें श्रेय मानते हैं। बस पड़े रहो २ घंटा, ४ घंटा, ६ घंटा। खाट भली और आदमी भला तो फिर कैसे विकास हो सकता है? न राष्ट्र का निर्माण हो सकता है, न समाज का निर्माण हो सकता और न स्वयं के जीवन का निर्माण हो सकता है।

जीवन निर्माण की पहली शर्त है कठोर श्रम और समाज व राष्ट्र के निर्माण की पहली शर्त है कठोर श्रम। जो लोग इस सचाई को नही समझते वे अपना जीवन भी नही बना पाते। कभी नहीं बना पाते।

आचार्य भिक्षु एक रात बैठे थे। चार बज गए, साधुओं को उठाया, कहा कि जागो, स्वाध्याय और ध्यान का समय हो गया। साधु उठे और वंदना की, फिर पूछा कि गुरुदेव ! आप कब उठ गए ? आचार्य भिक्षु ने कहा कि पहले यह तो पूछो कि आप कब सोए थे ? उठने की बात बाद की है, पहले सोने की बात पूछो। तो क्या आप सोए ही नहीं ? हां सोया ही नहीं। लोग आ गए, जिज्ञासु लोग थे वे आ गए। उनके मन में जिज्ञासा थी और मैं जिज्ञासा का समाधान कर रहा था। करते-करते चार बज गए और वे लोग अब गए हैं, चार बज गए हैं अतः मैं तुम्हें उठा रहा हूं।

जो व्यक्ति कठोर श्रम करता है वह कुछ दे जाता है। पीछे छोड़ जाता है। भावी पीढ़ी के लिए कुछ छोड जाता है। उसी की विरासत चलती है जिसने कठोर श्रम किया है। भगवान् महावीर कहीं आश्रम बांध-कर बैठे नहीं। बड़ी विचित्र बात है। पूरे साधना काल में निरन्तर चलते रहे। कभी कही गए, कभी आदिवासियों के बीच गए और कभी जंगल में गए, श्मशानों में गए और कभी कहीं गए। केवल चर्या, चर्या और चर्या। चलना, चलना और चलना। क्या सूझी उन्हें ? श्रम करते रहे। वर्धमान सिद्धार्थ के महलों में जन्मे। वे राजकुमार थे। सुख एवं मौज करते थे। आनन्द करते। फिर क्या सूझी कि सब आनन्द को छोड़कर गांव-गांव में घूमते रहे ? बुद्ध अपने राजधानी में मजे से बैठे थे। उन्हे क्या सूझा कि छोड़कर संन्यासी बन गए और महल से नीचे उतर आए। ऐसा क्यों किया ; क्यों इतनी तपस्या की ? क्यों इतनी भूख सही ? क्यों इतने मच्छरों का कष्ट सहा, पशुओं का कष्ट सहा और आदमियो का कष्ट सहा ? बात समझ में नहीं आती। जब सुखवादी विचारधारा के सम्बन्ध में सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि उन लोगों ने समझदारी का काम नहीं किया। समझदार होते तो सुखवाद को छोड़कर क्यों कष्ट झेलते ! एक दृष्टिकोण यह है कि सामने थाली परोसी हुई है, उसे तो छोड़ना और भावी सुख की कल्पना करना। सामने जो प्राप्त है उसे तो भोगना नहीं और आगे के लिए विचार करना। यह स्वर निकलता है सुखवादी विचारधारा से। किन्तु महावीर सुखवादी

संन्यासी ने फिर कहा—"लो, अब मैं तुम्हे गुर बताता हूं। जिस व्यक्ति ने लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा इन सबमें सम रहना सीख लिया और अपनी चेतना को समतामय बना लिया वही व्यक्ति अव्याबाध सुख पाने का अधिकारी है और कोई नही हो सकता।

सचमुच हमारी दुनिया में अव्याबाध सुख है ही नहीं। एक व्यक्ति आज तक तो हमें नहीं मिला जो यह कह सके कि हमारा जीवन तो बिलकुल दु:ख-मुक्त और समस्या-मुक्त रहा है।

महावीर घर से निकले और बारह वर्ष तक चर्या करते रहे। बुद्ध अपने घर से निकले और वर्षों तक साधना करते रहे। वे उस सुख की खोज में निकले कि जो केवल सुख हो और जिससे दु:ख जुड़ा हुआ न हो। सुख के पीछे दु:ख न चलता हो, उस सुख की खोज में निकले थे।

साधारणत: आदमी के पास सुख आता है किन्तु साथ-साथ दु:ख की भी पदचाप सुनाई देती है, वह भी कह रहा है कि जल्दी ही आ रहा हूं। जाओ तुम, अपना काम करो मैं भी पीछे-पीछे आ रहा हूं। ऐसा लगा रहता है कि पीछे क्या कभी-कभी आगे हो जाता है। कभी-कभी आगे की बात हो जाती है।

सुख की खोज में प्रयाण किया कि जिससे पीछे-पीछे दु:ख न आए। अव्याबाध सुख, निरंतर सुख। हर आदमी चाहता है। पर वह इसलिए सफल नहीं हुआ कि उसने कन्टीन्यूटी नही रखी, निरंतरता बनाए नही रखी। जहां निरंतरता नहीं होती वहां आदमी फेल हो जाता है। सुख की निरंतरता नहीं है, क्यों नहीं है। हमने इतना पुरुषार्थ नहीं किया और इतना श्रम नहीं किया कि जिससे हमारा सुख निरंतर रह सके। श्रम तो थोड़ा करते हैं और सुख ज्यादा चाहते हैं। अव्याबाध सुख के लिए निरंतर श्रम करना होता है। निरंतर तपस्या और साधना करनी होती है। निरंतर कष्ट सहना होता है। तब हमारी चेतना का निर्माण होता है कि जिसमें निरंतरता आ जाए और निरंतरता बन जाए।

कल ही मैं पढ रहा था कि बहुत सारे वैज्ञानिक बुढ़ापे के निवारण की खोज में लगे हैं। बुढ़ापा आए नही और सताए नहीं। एक इन्स्टीट्यूट के वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि औषधि, व्यायाम और आहार का संतुलन—ये तीन ऐसे उपाय हैं जिनसे बुढापे को रोका जा सकता है। इन तीनों में आपको अभी औषधि तो नही मिलेगी। पर आहार का संतुलन

और व्यायाम—ये दो बराबर मिल रहे हैं। अगर आसन और प्राणायाम का नियमित प्रयोग चलता रहे तो शायद आने वाली अनेक बीमारियों और बुढ़ापे के कष्टों से आदमी बच सकता है और सुख का जीवन जी सकता है। दृष्टिकोण तो सुखवादी बन गया किन्तु सुख का जीवन जीया जा सके वैसा उपाय नहीं रहा। बड़ी विचित्र बात है।

यदि निरंतर बीस मिनट के लिए ही अपने श्वास का ध्यान किया जाए, श्वास की प्रेक्षा की जाए, तो उस प्रकार की चेतना का निर्माण हो सकता है कि बहुत सारे मानसिक आघातों और प्रत्याघातों से आदमी बच सकता है। यदि कायोत्सर्ग और अनुप्रेक्षा–मैत्री की अनुप्रेक्षा, अभय की अनुप्रेक्षा–ये प्रयोग निरंतर चलें तो आदमी बुद्धि और भावना में संतुलन स्थापित कर सकता है। फिर बौद्धिक कठिनाइयों से बच सकता है, भावनात्मक समस्याओं से बच सकता है और काफी समस्याओं से अपने आपको बचा सकता है।

आप इस सचाई को समझें कि सुख की कामना से सुख नहीं मिलता। श्रम, कष्ट और तपस्या की साधना से सुख मिलता है। यह बात हमारे समझ में आनी चाहिए। जब सचाई को आदमी नहीं पकड़ता तो बहुत सारी गलत बातें आदमी कर जाता है। यथार्थ को पकड़े बिना ऐसी बातें कर जाता है कि कुछ मिलता नहीं। एक युवक आया मिल मालिक के पास नौकरी के लिए। मिल मालिक उसका इन्टरव्यू ले रहा था, परीक्षण कर रहा था। तो मिल मालिक ने पूछा 'युवक'! तुम बताओ कि हमारी मिल का बड़ा उत्पादन है। क्या तुम बिक्री का काम संभाल सकोगे? माल बेच सकोगे? इतना माल निकाल सकोगे? वह बात पकड़ नहीं पाया। बोला, कि आप कैसी बात कर रहे हैं? आप अगर मुझे अधिकार दें तो मैं यह सारा काम कर सकता हूं। अधिकार की बात है, अगर आप अधिकार दें तो मैं आपकी कपड़े की मिल को भी बेच सकता हूं। कपड़े को बेचना छोटी बात है, मिल को भी बेच सकता हूं।

मुझे लगता है कि बहुत सारे लोग भ्रांतियों का जीवन जी रहे हैं। भ्रान्तियां पल रही हैं सुख के बारे में और सुविधा के बारे में। बस, सुविधा मिलनी चाहिए। यह फ्रीज का विकास क्यों? यह पंखे का विकास क्यों? सुविधा के लिए। आने वाली शताब्दी में इतने भयंकर सुविधा के साधन आने वाले हैं कि आदमी को दरवाजा खोलना नहीं पड़ेगा। बिजली जलानी नहीं होगी, पंखा का बटन दबाना नहीं होगा। न बटन ओफ करना होगा, कुछ भी

नहीं। रसोई पकानी नही होगी। कुछ भी नहीं करना होगा। बर्तन की सफाई नहीं करनी होगी और न झाडू देना होगा। कुछ भी नही करना होगा। बिलकुल आराम से बैठे रहना होगा। यह सब कौन करेगा रोबोट करेगा। लौह-मानव करेगा। ऐसे यंत्रो के मानव बना दिए जाएंगे कि कपड़ों की धुलाई वह करेगा। वह सारा काम करेगा। यह सारा का सारा २१ वी शताब्दी मे होने वाला एक चित्र है। कितना अच्छा होगा! कितनी अच्छी होगी २१ वीं शताब्दी ! जो लोग ८०-९० के आस-पास के हैं वे सोचते होंगे कि हाय ! हम नहीं देख पाएंगे, पहले ही चले जाएंगे। और जो बीस-पचीस वर्ष के युवक-युवतियां हैं वे सोचते होंगे कि कितना अच्छा होने वाला है। स्वर्ग धरातल पर उतरने वाला है। पर जिस दिन यह हो जाएगा तब आदमी कितना दु.खी होगा यह कल्पना नही की जा सकती। सोचा नही जा सकता, क्योंकि हम सारी बात सुविधा के आधार पर सोच रहे है। किन्तु जिस दिन यह रोबोट का युग आएगा तो वह आदमी का स्वामी होगा और आदमी उसका दास होगा। आदमी की कीमत घट जाएगी। आदमी का मूल्य घट जाएगा। फिर कोई आदमी को चाहेगा या रोबोट को चाहेगा ? आदमी खड़ा है तो कहेगा कि चले जाओ, तुम्हारी कोई जरूरत नही। आदमी का तो मूल्य कौड़ी का नही रहा। आज तो बडा मूल्य है। आता है तो साथ मे एक नौकर चाहिए और एक कर्मचारी चाहिए। फिर किसलिए कर्मचारी की जरूरत। इधर कम्प्यूटर और इधर रोबोट दोनों मिल गए। न नौकर की जरूरत और न और किसी की जरूरत। अकेला बैठा है और सब काम ओटोमेटिक हो रहा है। बस, उस हालत में आदमी का क्या होगा ?

जब तक सुविधा और सुख इन दो बातों को देखने के लिए हमारी दो आंखों को खुला रखेंगे तब तक लगता है कि चेतना का युग नही होगा, यंत्र का युग होगा। आदमी की विशेषता चेतना है, सो जाना नहीं। फिर तो आराम ही आराम करो, कुछ करना तो है नहीं। आराम करते-करते ऐसी ऊब आएगी कि आज जिसकी कोई कल्पना नहीं करता। वह स्थिति जिसमें हमारा चैतन्य प्रज्वलित होता है, हमारी ज्योति जगमगा उठती है उस स्थिति में सुख का अनुभव होता है, फिर सुख का अनुभव नही होता।

जिन लोगों ने इन सचाइयों को समझने का यत्न किया है उन्हे लगता है कि २१ वीं शताब्दी आदमी के लिए सबसे खतरनाक होगी और जिन लोगों ने सुख-सुविधा का दृष्टिकोण बना लिया उन्हे लगता है कि उसमें स्वर्ग . .

उतर आएगा।

एक बार कोई सिद्ध पुरुष आया और उसने कहा कि मैं सब कुछ दे सकता हूं। यह बात धरती ने सुनी और वह जाकर बोली—"महाराज! आपको कुछ देना हो तो आप स्वर्ग में चले जाइए। क्योंकि उनके पास सुख ही सुख है कोई काम तो है नहीं। कुछ करना तो है ही नहीं। उन्हें मुफ्त में दिया हुआ चाहिए। धरती के बेटे को वरदान नहीं देना, अन्यथा वह अकर्मण्य और आलसी बन जाएगा।

यह बहुत बड़ा प्रश्न है और सबसे पूछे जाने वाला प्रश्न है और आज के उन वैज्ञानिकों से यह पूछे जाने वाला प्रश्न है कि तुम ज्यादा से ज्यादा सुविधा के साधन जुटा कर आदमी के साथ न्याय कर रहे हो या आदमी को सुलाना चाहते हो, मूर्च्छा में डालना चाहते हो? हमने देखा है कि एक आदमी सात वर्ष तक मूर्च्छा में रहा। खाट से नहीं उठा, न स्वयं खाना और न स्वयं उत्सर्ग करना और कोई काम करना, और कुछ न करना आज भी जीवित है। आप इसे क्या मानेंगे? सुख में रहा? घर वाले प्रयत्न करते रहे कि जागे और उठे। प्रयत्न क्यों चला कि मूर्च्छा में जीना आदमी का जीना नहीं होता, एक पत्थर का जीना होता है। कोई भी पत्थर बनना नहीं चाहता। राम को बहुत बड़ा श्रेय दिया जाता है कि अहिल्या का स्पर्श किया और वह पत्थर से स्त्री बन गई। पत्थर था कितना सुख था और स्त्री बनने के बाद कहां वह सुख और आराम था, पर हर कोई पाषाण का जीवन जीना नहीं चाहता।

हमारी चेतना जागृत रहे और चेतना का विकास हो। अव्याबाध सुख की खोज यह यन्त्रमानव और कम्प्यूटर से होने वाली नहीं है। यह खोज हो सकती है अपनी चेतना के विकास से। उस चेतना का विकास जिसके जागने पर समता का निर्माण हो जाए और हर स्थिति में आदमी सम रह सके, विषमता न आए। इसलिए हमारे सामने प्रश्न है सुखवाद का और सुविधावाद का। अब निर्णय करना युग के हाथ में है और अपने हाथ में है कि क्या आप सुख सुविधा के कारण अपने आपको मूर्च्छा की स्थिति में ले जाना चाहते हैं या अपनी चेतना को जागृत कर अव्याबाध सुख की ओर बढ़ना चाहते हैं?

प्रश्न है सीख देने वालों का

आदमी मनवाना ज्यादा चाहता है और मानना कम चाहता है। दूसरे
ाने की बात तो अच्छी लगती है और स्वयं सीखने की बात
ही लगती। सृष्टि का नियम उल्टा है कि जो स्वयं नहीं मानता,
ोई बात दूसरा नहीं मानता। स्वयं नहीं सीखता उसकी सीख दूसरा
ा नहीं है। हर आदमी देखता है कि यह क्या कहता है और क्या
। कहने वाले को उतना नहीं सुनना चाहता जितना करने वाले को
ाहता है। इसीलिए एक सूत्र दिया गया कि गुरु के पास बैठो और
ाधर्मिक के पास बैठो, सुनो और उपासना करो। सुश्रूषा को जगाओ
ापु बनो। तुम्हारी उपासना परिपक्व होगी, तुम्हारी सुश्रूषा जागेगी।
े बिना विनय की उत्पत्ति नहीं होती। आचार सीखा नहीं जा सकता।
्यक्ति के बीच में एक दीवार होती है। मकान की दीवार बहुत छोटी
। हम उसे लांघ जाते हैं। सीढ़िया बन लेते हैं और ऊपर चढ़ जाते
न्तु व्यक्ति के बीच में जो दीवार होती है वह दुर्लंघ्य ही नहीं, अलंघ्य
ी है। हर व्यक्ति के बीच में दीवार होती हैं। और वह दीवार है
दीवार। हर व्यक्ति अपना घेरा बनाए हुए है और अहं की दीवार
ए हैं। इतनी बड़ी दीवार कि जिसे कभी तोड़ा नहीं जा सकता और
ही जा सकता। सुश्रूषा उसी व्यक्ति में आती है जो अहं की दीवार को
ा है। जब तक अहं की दीवार है, आप पास में बैठ रहें, पर किसी की
सुन नहीं सकते। दूर-दूर रहेंगे, पास में नहीं आ सकते। दीवार बीच
की बनी रहेगी।

साधना का बहुत बड़ा सूत्र है अहं की दीवार को तोड़ देना। जीवन
लता का बहुत बड़ा सूत्र है अहं की दीवार को तोड़ देना। दो के मिलन
त बड़ा सूत्र है अहं की दीवार को तोड़ देना। अन्यथा दो व्यक्ति मिल
कते। पास में बैठे भी इतने दूर होते हैं कि जैसे तीन का और छह का
पास रहते हैं किन्तु दोनों इतने दूर कि कभी मुंह मिलने ही नहीं है। दूर
वाले पास हो जाते हैं जिनके अहं की दीवार टूट जाती है। बहुत निकट

रहने वाले दूर चले जाते हैं, जिनके निकट अहंकार की दीवार खड़ी रहती है। वही व्यक्ति सीख सकता है जो अहंकार की दीवार को तोड़ देता है। उसी को विनय उपलब्ध होता है। उसी की सद्गति होती है। यह सबसे बड़ी निष्पत्ति है महावीर की वाणी में कि जो स्वयं सुश्रूषा के द्वारा विनय को प्राप्त हो जाता है, वह अपने आचरण और व्यवहार से बहुत सारे प्राणियों को विनय के मार्ग पर अनायास ले जाता है। जो स्वयं विनय को अप्राप्त है वह दूसरे को विनय की ओर ले जा नहीं सकता।

एक परिवार नियोजन का अधिकारी गांव में घूम रहा था। वह लोगों से कह रहा था कि परिवार नियोजन कराना है। लोगों को उसके इतिहास का पता चल गया। एक मुहफट आदमी ने कहा कि 'क्या बात करते हो परिवार नियोजन की! तुम्हारे तो दस बच्चे हैं और परिवार नियोजन की बात करते हो! क्या बोले? उसे कहना पड़ा कि भाई! पहले मैं विकास विभाग में था। विकास अधिकारी था और अब परिवार नियोजन का अधिकारी बना हूं। विकास विभाग में मैंने विकास किया और अब नियोजन विभाग में स्वयं भी नियोजन करूंगा।'

कौन कैसे माने? जिसके दस बच्चे और वह कहे कि परिवार का नियोजन करना है, उसकी बात का कोई भरोसा नहीं करता। बड़ी मुसीबत होती है। जिस व्यक्ति ने अपने व्यवहार से और आचरण से पढ़ाना शुरू किया, सिखाना शुरू किया वह वास्तव में शिक्षक होता है, उसकी बात बिना कहे मानी जाती है। स्वीकृति होती है वहां, शब्द नहीं बोला जाता, प्रयोग नहीं किया जाता, कहता है उसी बात को मान लेते हैं। हां शब्द का प्रयोग होता है किन्तु शब्द के पीछे अर्थ नहीं होता। वहां के लोगों के मन में सन्देह पैदा होता है और लोगों में अनास्था का भी भाव पैदा होता है। और ज्यादा कहूं तो घृणा का भाव भी पैदा होता है। एक अवज्ञा का भाव पैदा होता है कि कैसा जमाना आ गया कि ऐसे लोग सीख देने वाले और उपदेश देने वाले हैं जो स्वयं तो करते नहीं हैं और दूसरों को कहते फिरते हैं। दूसरों को वही व्यक्ति विनय के मार्ग पर ले जा सकता है जो स्वयं विनय के मार्ग पर चल चुका है।

हमने देखा कि जिन लोगों ने गुरु के चरण में बैठकर सुश्रूषा की है, उपासना की है, और सुना है तथा विनय की प्रतिपत्ति को पाया है वे लोग ही वास्तव में दूसरों के लिए एक माडल बन सकते है। प्रारूप बन सकते हैं।

हमारे सामने एक प्रारूप चाहिए। एक सामने चित्र चाहिए कि हम वैसे बन सकें। हर व्यक्ति को जरूरत होती है। आजकल मकान बनाया जाता है तो पहले उसका रेखा-चित्र बनाया जाता है। एक चित्र होता है तो उसके आधार पर सारी निर्माण की प्रक्रिया चलती है। अच्छा बनता है। व्यक्ति को भी अपना जीवन बनाना है। हर व्यक्ति को बनाना है। बच्चा है उसे तो अपना जीवन बनाना ही है। दस वर्ष के बच्चे को भी अपना जीवन बनाना है। बहुत सारे ऐसे लोग है कि पचास वर्ष के हो जाते हैं किन्तु निर्माण नहीं कर पाते, उन्हें भी अपना जीवन बनाना है। और मैं तो सोचता हूं कि मृत्यु के क्षण तक जीवन निर्माण की प्रक्रिया चलनी चाहिए। यदि जीवन निर्माण की प्रक्रिया बन्द हो जाएगी तो आदमी बुढ़िया जाएगा, वह बूढ़ा हो जाएगा। जो बराबर जीवन-निर्माण की बात को लेकर चलता है वह बूढ़ा नहीं होता। मरते दम तक बूढा नहीं बनता, चाहे अस्सी वर्ष का हो जाए, चाहे नब्बे वर्ष का हो जाए। जिसने जीवन-निर्माण की प्रक्रिया को बन्द कर दिया वह तीस वर्ष का भी बूढ़ा बन जाएगा। कुछ नया नहीं कर पाएगा। न हीं सीख पाएगा और न हीं जोड पाएगा। न ही सुधार कर पाएगा और न ही परिष्कार कर पाएगा। कुछ भी नही कर पाएगा। हमारे जीवन निर्माण की प्रक्रिया बराबर चले और उसके लिए एक प्रारूप चाहिए कि कैसा बनना है। और उसके लिए आदर्श चाहिए, आदर्श कौन बन सकता है? वही व्यक्ति आदर्श बन सकता है कि जो विनय को प्राप्त है और जिसने अपने जीवन के व्यवहार में और आचरण मे विनय का प्रयोग किया है, नियोजन किया है, सद्‌गति को प्राप्त किया है और दूसरों के लिए प्रेरक बना है। एक प्रारूप बनता है। हजार बार आप श्रम की शिक्षा दें शायद बात समझ मे नही आएगी किन्तु नेपोलियन की एक घटना प्रेरणा बन गई।

काम चल रहा था। मजदूर एक खंभा उठा रहे थे। वह काफी भारी था। मुसीबत हो रही थी। कई बार प्रयत्न करने पर भी उठाया नहीं जा रहा था। ठेकेदार पास में खड़ा था। नेपोलियन उधर से निकला, देखा, और उसे बड़ा अजीब लगा। पास में जाकर बोला कि भाई तुम ऐसे खड़े हो और बेचारे मजदूर इतना श्रम कर रहे हैं। खंभा उठाया नहीं जा रहा है, तुम थोड़ा सा सहारा दो और इनका काम बन जाएगा। बोला, कौन होते हो तुम सलाह देने वाले! जानते नही कि मैं कौन हूं! मैं ठेकेदार हूं। क्या इन मजदूरों के साथ खंभा उठाऊंगा? ठेकेदारी कौन करेगा! जा, चला जा।

होता है, बहुत प्रज्वलित रहना होता है और अधिक जागरूक रहना होता है। उस व्यक्ति को भी जिसने गुरु के चरणों में बैठकर सुश्रूषा की है, पर्युपासना की है, विनय को प्राप्त किया है, उसे जागरूक रहना होता है। वर्तमान के वातावरण में यह बात समझ में आ जाए कि सिखाना शब्दों के साथ नही व्यवहार के साथ सिखाना चाहिए। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति वही काम कर रहे हैं। वे शब्दों से नही सीख रहे हैं, प्रयोग से सीख रहे हैं। अभ्यास कर रहे हैं कि वैसा जीवन बन जाए। जीवन में वह कहा न जाए, बन जाए। बन जाता है तो वह अपनी अनुभूति हो जाती है और वह कसुम्बा गलता है, दूसरे को भी रंग देता है।

टोकरसी भाई बैठे हैं। बता रहे थे कि प्रेक्षाध्यान का अभ्यास शुरू किया और इन चार वर्षों में उस भूमिका का अनुभव किया है कि शायद शेष जीवन में नहीं किया था। यह कोई शब्दों से नहीं मिला, किसी ने उपदेश नहीं दिया, उपदेश से नहीं मिला, यह मिला व्यवहार से और आचरण से।

तेरापंथ के साधु-साध्वी हजारों मील की यात्रा करते हैं। प्रतिवर्ष वे आचार्य द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर एकत्रित होते हैं और पुनः वहा से आचार्य के आदेशानुसार भारत के विभिन्न भागों मे चले जाते हैं। आने-जाने में हजारों मील की दूरी तय करनी होती है। पर यह पूर्ण उत्साह के साथ होता है। चलने वाले सारे युवक ही नहीं होते। उनमें वयःप्राप्त भी होते हैं। आचार्य का आदेश उनके लिए सर्वोपरि होता है। नेपाल से आए और पुनः नेपाल या कलकत्ता जाना होता है तो भी कुछ ननुनच नही होता। इसका मूल करण है कि स्वयं आचार्यश्री इतना श्रम करते हैं कि दूसरो को अपना श्रम आचार्यश्री के श्रम की तुलना में नगण्य सा लगता है। एक बार राष्ट्रपति फकरुद्दीन ने आचार्यश्री से कहा— आचार्य श्री! एक प्रार्थना करता हूं कि, जैन विश्व भारती का विकास हो, यह अपेक्षित है, पर आप कहीं बैठ मत जाना। आप यदि बैठ गए तो दूसरों को खड़ा नही रख सकेंगे, अर्थात् फिर दूसरों को चलाया नही जा सकेगा।

आचरण से जो पाठ पढ़ाया जा सकता है, वह शब्दों से नही पढ़ाया जा सकता। इस रहस्य को उत्तराध्ययन सूत्र में जो अभिव्यक्ति दी गई है, यह बात समझ में आ जाए तो 'प्रश्न है सीख देने का' यह स्वयं समझ में आ जाएगा।

प्रश्न है आलोचना का

दुनिया में सबसे कठिन काम है आलोचना करना, पर आज इसे सरल बना डाला। आज का आदमी अनुभव करता है कि सबसे सरल काम है आलोचना करना। इसे चाहे जब, चाहे किसी की, चाहे ज्यों करो, कोई श्रम नहीं करना पड़ता। यह एक बात है। इस संदर्भ में आलोचना का अर्थ है टीका-टिप्पणी करना।

दुनिया में सबसे जटिल काम है आलोचना करना। वह हर एक व्यक्ति कर नहीं सकता। इस आलोचना का अर्थ है—अपने आपको देखना, प्रेक्षा करना।

आलोचना सरल भी है और जटिल भी। यह सापेक्ष है।

आदमी दूसरे को बहुत देखता है, स्वयं को नहीं देखता। अपने आपको नहीं देखता।

गुरु के पास एक शिष्य आकर बोला—'गुरुदेव ! आप चक्षुदाता हैं। मुझे चक्षु दें। गुरु बोले—तुम्हारे पास दो आंखें है, फिर क्या चाहिए ?' वह बोला—'दो तो हैं, पर मुझे तीसरी आंख दें, जिसके द्वारा मैं अंधकार को न पालूं। मुझे जो दो आंखें प्राप्त हैं, उनके द्वारा मैं प्रकाश पाता हूं और साथ ही साथ अंधकार को पालता हूं।'

कौन व्यक्ति होगा जो प्रकाश के साथ अंधकार को नहीं पालता ? केवल दीए के तले ही अंधेरा नहीं होता, हर प्रकाश के तले अंधेरा होता है। हमारी दोनों आंखों के नीचे अंधेरा है। ये दोनों आंखें अंधेरे को पालती हैं, पोसती हैं। इधर देखा, उधर देखा और देखे को अनदेखा कर डाला, यह अंधेरे को पालना है। अनेक लोग सचाई को जानते हुए भी उस पर आवरण डाल देते हैं और असत्य को सामने ला रखते हैं। यह भी अंधेरे का पालना ही है।

तीन अंधकार हैं—माया, निदान और मिथ्या दृष्टिकोण। शिष्य ने कहा—प्रभो ! मुझे वह दृष्टि चाहिए जिसमें ये तीनों न हों। छिपाव न हो, कोरा प्रकाश ही प्रकाश हो, लोहावरण न हो। आज कितना छिपाव है, कितना

मायाचार है ! ये अंतरिक्षयान गुप्तचरी करने के लिए हैं। ये गुप्तचरी की गुप्तचरी करते हैं। एक राष्ट्र अपने आयुधों को छिपाना चाहता है तो दूसरा राष्ट्र *अंतरिक्ष यान की* गुप्तचरी से उसे जान लेता है। एक छिपाता है, दूसरा जान लेता है। यह मायाचार इतना बढ़ गया है कि कहीं सचाई नहीं है, ऋजुता नहीं है, प्रकाश नहीं है।

हर व्यक्ति गुप्तचरी करता है, यानी गुप्त रखने की बात हर व्यक्ति के पास है। वह येन-केन-प्रकारेण छिपाता है।

सर्वत्र माया है। कहीं सरलता नहीं है। आज ऐसा मान गया है कि जीवन में प्रकाश और अंधकार—दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। कुछ बात स्पष्ट रखनी चाहिए और कुछ अस्पष्ट। छिपाने की बात प्रारंभ से ही सिखा दी जाती है। व्यक्ति घर में बैठा है और बच्चे को कहता है कि कोई आकर पूछे तो कह देना कि डैडी घर में नहीं हैं। बच्चा छिपाना सीख जाता है। जीवन में कोरा प्रकाश न रहे, थोड़ा अंधकार भी चलता रहे। मान लिया गया कि *कोरे प्रकाश से जीवन चलता नहीं। कोरा प्रकाश क्यों हो, इस धारणा के* आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में, समाज-समाज के बीच में और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में मायाचार चल रहा है। इस मायाचार के कारण तनाव पैदा हो रहा है। सबसे बड़ा तनाव है छिपाव का। जो बात साफ है वहां तनाव नहीं होता। जहां छिपाव आया वहीं तनाव आ जाता है। दूसरे पर इतना दबाव होगा कि यह बात तो छिपाई जा रही है। साफ नहीं बताई जा रही है। वहीं तनाव पैदा हो जाएगा।

जो व्यक्ति अपने आपको नहीं देखता वह व्यक्ति कोरे *प्रकाश का जीवन* नहीं जी सकता। वह प्रकाश और अंधकार—दोनों का जीवन जीता है। जो व्यक्ति अपने आपको नहीं देखता वह व्यक्ति कोरे संतोष का जीवन नहीं जी सकता। उसमें कुछ संतोष होगा तो साथ-साथ में वह असंतोष को भी पालेगा। हर व्यक्ति के जीवन को देखा जाए तो ऐसा अनुभव होगा कि संतोष के साथ-साथ असंतोष भी चल रहा है। इसका कारण है कि आत्मालोचन नहीं है, अपनी आलोचना नहीं है। खोजने पर बड़ी मुश्किल से कोई मिलेगा कि जिसमें असंतोष न हो। सब कुछ प्राप्त है फिर भी असंतोष है। किसी को धन न होने का असंतोष और किसी में परिवार पूरा न होने का असंतोष और किसी में सम्मान न होने का असंतोष, किसी न किसी बात का असंतोष *मिलेगा ही।*

शिष्य ने कहा—'गुरुदेव ! मुझे वह आंख चाहिए जिससे मैं अपने आपको देख सकूं। और केवल संतोष का जीवन जी सकू, असंतोष से दूर रह सकू। गुरुदेव ! मुझे वह आंख चाहिए जिससे मैं सही दृष्टिकोण अपना सकूं, मिथ्या दृष्टिकोण हट जाए।

व्यक्ति का दृष्टिकोण बड़ा गलत होता है। वह यथार्थ का मूल्यांकन नही करता, सचाई को नही पकड़ता। झूठी धारणाएं बना लेता है। एक बार की घटना है कि कुछ अंग्रेज डॉ० राधाकृष्णन् से बात कर रहे थे। बातचीत के दौरान एक अंग्रेज ने अहंकार की भाषा में कहा कि भगवान् की हम पर ज्यादा कृपा है। जिससे कि हमें इतना गोरा बनाया है। गोरा होना भी भगवान् की कृपा है। अहंकारी आदमी हर बात को बना लेता है। डॉ० राधाकृष्णन बोले—'थोड़ी भूल है तुम्हारे कथन में। ईश्वर जब सृष्टि का निर्माण कर रहा था तो उसने जो पहली रोटी सेकी, वह थोड़ी कच्ची रह गई और उसी से अंग्रेज जाती का निर्माण कर दिया। और दूसरी थोड़ी ज्यादा सिक गई तो निग्रो जाति का निर्माण कर दिया। और जब ठीक ढंग से रोटी सेकी, न गोरी और न काली, तो भारतीय जनता का निर्माण कर दिया।

मिथ्या धारणा बना लेता है आदमी। कुछ भौगोलिक कारण होते हैं, कुछ प्राकृतिक कारण होते हैं। और उन कारणों से मनुष्य जाति में थोड़ा परिवर्तन होता है। किन्तु मनुष्य ने इतना मिथ्या दृष्टिकोण बना लिया और इतनी मिथ्या धारणा बना ली कि उनके कारण जीवन में अंधकार बहुत पलता जा रहा है। प्रकाश कम होता चला जा रहा है और अंधकार बढ़ता चला जा रहा है। माया, निदान और मिथ्यादर्शन—जब तक ये तीन बातें होती हैं तब तक आदमी अपने आपको देख नहीं सकता। इसे उलट कर यों कह दें कि जब तक आदमी अपने आपको नहीं देखता तब तक माया को पालेगा, असंतोष और आकांक्षा को पालेगा और मिथ्या दृष्टिकोण को पालेगा। ये सब लोग, जिन लोगों ने अपने आपको देखना नही सीखा, अपनी प्रेक्षा करना नहीं सीखा, निश्चित ही इन तीनों में चले जाएंगे। अंधकार की त्रिवेणी में चले जाएंगे। इनमें अवगाहन करेंगे, मज्जन करेंगे। यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है। जो अपने आपको नहीं देखता वह कभी ऋजु और सरल नही हो सकता। वह हर बात को छिपाएगा। अपनी गल्ती को छिपाने की बात तो एक छोटा बच्चा भी सीख लेता है। सचाई पर आवरण डालना, वह सीख लेता है। बचपन से वह देखता है कि पिता झूठ बोल रहा है और सचाई को प्रगट नही

कर रहा है। छिपा रहे हैं तो फिर मुझे क्यों प्रगट करना चाहिए। वह भी छिपाना चाहता है और छिपाने में रस भी आता है। सोचता है, बात को साफ-साफ कहा तो डांट-डपट मिली और छिपा दिया तो बच गए। बच जाता है तो विश्वास पैदा हो जाता है कि छिपाने में बचाव और कहने में समस्या, डांट-डपट और उलाहना, कितना सहना पड़ता है। छिपाने की बात बहुत सीधी लगती है तो छिपा लेता है। छिपाता वही है जो आलोचना करना नहीं जानता। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग इसलिए बहुत महत्वपूर्ण है कि जिस व्यक्ति ने अपने आपको देखना सीखा है उसने सारे छिपाव दूर कर दिए। वह अपने भीतर में होने वाले प्रकम्पनों को देख रहा है। अपने भीतर उठने वाले विकारों को देख रहा है, विकार की तरंगों को देख रहा है। वह यह नहीं मान रहा है कि मेरे भीतर सवा सौ प्रतिशत सही है। वह यह मानकर चलता है कि भीतर कितनी गलतियां हैं, विकार हैं, कितनी बुराइयां हैं और कितने दोष हैं। क्या छिपाना है? उन सबको देखना और उनको साफ साफ स्वीकार करना, यह आलोचना का पहला सिद्धान्त और पहली निष्पत्ति है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर खराबी है इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। वह कहे या न कहे सोचता यही है कि सामने वाले में सारी बुराईयां हैं, कमियां हैं। वह स्वयं बिल्कुल ठीक है। जहां भी दो व्यक्ति साथ में रहते हैं समस्या पैदा होती है। अगर दोनों को यह अनुभव हो जाए कि गलती मुझमें है और उसमें भी हो सकती है तो समस्या का सही समाधान हो सकता है। पर गलती मुझमें है यह पहली स्वीकृति होती नहीं है। पहली स्वीकृति यह होती है कि गलती उसकी है और मैं तो बिल्कुल ठीक हूं। अपनी निर्दोषता की स्वीकृति और सामने वाले के दोष की स्वीकृति यही सबसे बड़ी समस्या है जो पर-दर्शन से निष्पन्न होती है। जहां आत्म-दर्शन की बात आ गई यह बात समाप्त हो गई कि सामने वाले में गलती है या नहीं, इसकी चिन्ता करने से पहले मुझे इस बात की चिन्ता करनी है कि मुझमें कितनी गलतियां हैं। आलोचना का यह सिद्धान्त साधना के क्षेत्र में आया और उससे साधक को ऋजु होने का मौका मिला। ऋजुता शारीरिक दृष्टि से भी बहुत उपयोगी है। अंगुली टेढी है, प्राणधारा भी टेढी होगी। रक्त का संचार भी कम होगा। अगर आप लेटते हैं और सीधे पैर रहते हैं सिर से पैर तक, शरीर सीधा रहता है तो रक्त का संचार ठीक होगा। जो अवयव वक्र होगा उसमें रक्त का संचार सही ढंग से नहीं हो सकेगा। रक्त का संचार तभी ठीक होगा जब वह अवयव

रहना है। यह बड़ा धूर्त है, चालाक है। यह सामने मीठी बातें करेगा और पीछे से बकवास करेगा, कहेगा कि यह धोखेबाज है।

जहां यह धारणा बनी, अन्तर आ गया, और एक विघ्न पैदा हो गया। माया हमारी समस्या के समाधान का और मुक्ति का सबसे बड़ा विघ्न है।

दूसरा विघ्न है निदान। आकांक्षा होना एक बात है और आकांक्षा ही अकांक्षा होना दूसरी बात है। कहीं आकांक्षा की समाप्ति नहीं और कहीं विराम नहीं, यह जीवन का बहुत बड़ा विघ्न है, किसी न किसी सीमा पर तो हर आदमी को संतोष मान लेना ही पड़ता है।

आज का अर्थशास्त्री कहता है कि जहां हम संतोष मान लेंगे तो हमारा विकास नहीं होगा। तर्क तो ठीक है कि विकास नहीं होगा। आखिर विकास की भी कोई सीमा तो होनी ही चाहिए। उसका भी तो कोई अर्थ है। यह तो नहीं कि आदमी सर्वत्र फैल जाए। एक ही व्यक्ति अपना पूरा आर्थिक साम्राज्य बनाले, अपना भौगोलिक साम्राज्य बना ले, इसे विकास नहीं कहा जाएगा। इसे मानव जाति के प्रति अन्याय कहा जाएगा, अत्याचार और क्रूरता कहा जाएगा। विकास भी सापेक्ष होना चाहिए।

एक आदमी फैलता ही चला जाए, कैसे हम कहेंगे कि विकास हो हो गया। आचार्य सोमसुन्दर ने 'सिन्दूर प्रकरण' काव्य में कहा है—

> 'वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
> मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः संपदः।
> कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
> विपाकविरसा न तु श्वयथुसंभवा स्थूलता॥'

अगर आदमी सज्जन है, सदाचारी है, सदाचार से अपना काम करता है और यदि उसे करोड़ रुपए नहीं मिले तो अच्छा है, कोई बुरा नहीं है। और किसी ने बेईमानी के द्वारा और बुराई के द्वारा दूसरे को ठगकर, धोखा देकर, करोड़ों की संपदा अर्जित करली यह बिल्कुल अच्छा नहीं। इस बात को उन्होंने बड़ी सुन्दर उपमा के द्वारा समझाया कि एक आदमी कृश है, दुबला-पतला है, सुन्दर लगता है, शोभा देता है। किन्तु सूजन के रोग से यदि उसका शरीर स्थूल होता है तो भविष्य में उसका परिणाम सुन्दर नहीं होता। आजके डाक्टर भी कहते हैं—पतले रहो, पतले रहोगे तो सौ वर्ष तक जी सकोगे और आराम से रह सकोगे। अगर चर्बी बढ़ा ली तो १०० वर्ष तो आएंगे ही नहीं और आएंगे तो बीमारियों को पालते आएंगे।

मैंने पढ़ा, अमेरिका में एक क्लब है मेयोक्लब। उसका सदस्य वही बन सकता है जो शतायु होता है, सौ वर्ष का होता है। तो उस क्लब के व्यक्ति ने लिखा कि हमारी क्लब के जितने भी सदस्य बनें उनमें से कोई भी आज तक चर्बी वाला नहीं बना, जितने भी बने वे पतले और दुबले बने।

आज की सारी धारणा ही बदल गई। इसलिए यह ठीक कहा है कि सहज जो कृशता होती है वह सुन्दर होती है और भविष्य में उसका परिणाम अच्छा होता है। पतला आदमी अच्छे ढंग से चल सकता है, ऊठ-बैठ सकता है और अपनी शक्तियों का ठीक ढंग से संचालन कर सकता है। यदि चर्बी बढ़ गई तो अवरोध पैदा हो गए और अनेक बीमारियां पैदा हो गईं। मोटापा एक बार अच्छा लगता है, पर परिणाम उसका सुन्दर नहीं होता। विकास का अर्थ कोरा फैलना ही नहीं है, किन्तु अपनी सीमा में रहना है। यह जो विकास की परिभाषा बनाली गई आर्थिक विकास, बौद्धिक विकास, साम्राज्य का विकास, इन विकास की धारणाओं ने आदमी को भटका दिया और एक अंधेरा पैदा कर दिया। विकास वह हो सकता है जहां दूसरे के लिए अवरोध पैदा न हो और दूसरे के लिए सिरदर्द न बने। दूसरे के लिए सिर दर्द बनना, वह विकास नहीं होगा। वह मानव जाति के लिए ह्रास होगा। एक बहुत बड़ा विघ्न है यह असंतोष, निदान या आकांक्षा। उसकी एक सीमा होनी चाहिए। आज समस्या का समाधान इसीलिए नहीं हो रहा है कि अर्थशास्त्रीय विकास की परिभाषा कठिनाई पैदा कर रही है। और पूरी मानव जाति को भटका रही है। कल परसों एक युवक आया और बोला कि आपने प्रवचन में कहा कि एक सीमा होनी चाहिए तो फिर विकास कैसे हो सकेगा? आज की विकास की दौड़ में पीछे रह जाएंगे। मैं तो यह सोचता हूं कि अगर सोच-समझकर, जान-बूझकर ईमानदारी और सद्चरित्र के आधार पर कोई दौड़ में पीछे रह जाएगा वह दुनिया का सबसे बड़ा सौभाग्यशाली आदमी होगा। ऐसा है कहां सौभाग्यशाली आदमी! इतनी त्याग की क्षमता है कहां! इतना चरित्र है कहां! जो इस अंधी दौड़ से पीछे रह सकें। सब दौड़े जा रहे हैं। इतनी अंधी दौड़ कि न जाने कहां जाकर टिकाव होगा, पता नहीं है किसी को भी। कहीं भी ब्रेक है ही नहीं।

यह जीवन का सबसे बड़ा विघ्न है कि आदमी सीमा करना नहीं जानता। जहां ससीम होना चाहिए वहां असीम होने की बात सोच रहा है। जहां असीम होना चाहिए वहां सीमा की बात सोच लेता है। अपने आन्तरिक

प्रश्न है आदत को बदलने का

पुरानी आदत को बदलना मुश्किल है और नई आदत को डालना मुश्किल है। दोनों कठिन काम हैं। आदत को बदलने में बहुत शक्ति चाहिए। सामान्य प्रयत्न से न तो नई आदत का निर्माण किया जा सकता है और न पुरानी आदत को बदला जा सकता है। उसके लिए एक प्रक्रिया की जरूरत है। उस प्रक्रिया का पहला अंग है—आलोचना—अपने आपको देखना। जो अपनी आदत को देखता ही नहीं उसके लिए बदलने की बात ही प्राप्त नहीं होती। जिसने अपनी आदत को देखना सीख लिया उसने बदलने क लिए पहला चरण उठा लिया। आलोचना के द्वारा साक्षात्कार होता है। व्यक्ति छोटी, बड़ी, सूक्ष्म और स्थूल—सभी प्रवृत्तियों को देखता है। जो दूसरे का जजमेंट होता है वह ८० प्रतिशत गलत होता है, २० प्रतिशत सही हो सकता है। हर व्यक्ति जीता है अपने भाव जगत् मे और दूसरा पकड़ता है केवल उसका व्यवहार। भाव जगत् में जीने वाला व्यक्ति जैसा व्यवहार करता है वैसा दूसरा कैसे कर सकता है? व्यवहार के आधार पर सही निर्णय नही किया जा सकता। एक ही व्यवहार दो हेतुओं से भी उत्पन्न हो सकता है। एक आचरण के पीछे दो कारण हो सकते हैं। एक व्यवहार के पीछे मारने का कारण भी हो सकता है और जिलाने का कारण भी हो सकता है। जिलाना चाहता है पर व्यवहार वह मारने वाला कर रहा है। मारना चाहता है, पर व्यवहार वह जिलाने वाला कर रहा है। व्यवहार दोनों के समान, किन्तु हेतु दोनों के बिल्कुल भिन्न हैं।

डाक्टर ऑपरेशन करता है, चीरफाड करता है, चाकू चलाता है। यह व्यवहार कोई अच्छा नहीं लगता, किन्तु इसके जो प्रेरक तत्त्व हैं, वे बहुत अच्छे हैं। डाक्टर उसे स्वस्थ एवं दीर्घायु बनाना चाहता है। वही चाकू दूसरा आदमी चलाता है, छूरा घोपता है और पेट को फाड़ देता है। व्यक्ति को मार डालता है। डाक्टर ने भी छूरा चलाया और उस व्यक्ति ने भी छूरा चलाया। एक ही क्रिया, पर उसके दो अर्थ हो जाते हैं। एक ने छूरा चलाया जीवन-दान के लिए और दूसरे ने छूरा चलाया जीवन-हरण के लिए।

व्यवहार के आधार पर किसी भी व्यक्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। हमारी व्याख्या का मूल सूत्र बनता है भाव जगत्। कहां जी रहा है, किस भाव में जी रहा है ? अपूर्णदृष्टि वाला आदमी व्यवहार में जीता है और व्यवहार के आधार पर आदमी को अच्छा या बुरा बताता है। किन्तु आलोचना करने वाला व्यक्ति स्थूल बात को नहीं पकड़ेगा, वह सूक्ष्म बात तक जाएगा। इसलिए यह कहना मुझे बहुत पसन्द है कि व्यक्ति जितना अपने आपको समझ सकता है, दूसरा २० प्रतिशत से ज्यादा उसे नहीं समझ सकता। बहुत अच्छा व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि मे बहुत खराब हो जाता है और बहुत खराब व्यक्ति दूसरों की दृष्टि मे बहुत ज्यादा प्रामाणिक हो जाता है। प्रमाण किसे मानें ? तुला किसे मानें ? मानना तो होता है कि व्यवहार के जगत् में जीने वाला आदमी व्यवहार का अतिक्रमण नहीं करता। उसे व्यवहार को मानकर चलना होता है। व्यवहार व्यवहार है और निश्चय निश्चय है। निश्चय में सचाई यह है कि आदमी जो अपनी आलोचना करता है, अपने आपको देखता है, वह अपने आपको समझ सकता है, दूसरा कभी नहीं समझ सकता। आदत को बदलने का सबसे पहला सूत्र है—आलोचना, अपने आपको देखना, अपने आपका निरीक्षण करना, अपनी आदतों, प्रवृत्तियों और व्यवहारों का निरीक्षण करना। जब आलोचना होती है तब सारे भावों का और व्यवहारों का साक्षात्कार होता है और तब परिवर्तन की बात आती है। आलोचना करते-करते पता चलता है कि मैं कैसा हूं ? अभी तीन बजकर १५, १६ मिनट हो रहे हैं। आलोचना करने वाला सोचेगा कि ढाई बजे मैं कैसा था ? दो बजे मैं कैसा था ? पूरा देखना है, पूरा चित्र अपने सामने उभारना है। प्रातःकाल सूर्योदय के समय व्यक्ति जैसा था, नौ बजे के समय व्यक्ति वैसा नहीं होता। नौ बजे जैसा होता है बारह बजे वैसा नहीं होता। बारह बजे जैसा होता है, तीन बजे वैसा नहीं होता और तीन बजे जैसा होता है छह बजे वैसा नहीं होता। कालचक्र के साथ स्वभावचक्र बदलता चला जाता है। इस आधार पर ज्योतिषियों ने और आज के वैज्ञानिकों ने बहुत तथ्य सामने रखे है कि किस समय क्या करना चाहिए ? किसी व्यक्ति को कोई प्रार्थना करनी है तो किस समय करनी चाहिए ? किसी व्यक्ति से कोई काम करवाना है तो किस समय करवाना चाहिए ? किसी व्यक्ति के साथ कोई लेन-देन करना है तो किस समय करना चाहिए ? कालचक्र के साथ सारा निर्धारण किया है। प्रातःकाल एक प्रकार का मूड होता है और मध्यान्ह में दूसरे प्रकार का हो जाता है।

यदि आप प्रातःकाल एक व्यक्ति को एक बात कहेंगे तो वह आपकी बात मान लेगा। वही बात एक बजे की गर्मी में कहेंगे तो गुस्से में आकर ठुकरा देगा। कालचक्र और स्वभाव-चक्र—दोनों साथ-साथ चलते हैं।

व्यक्ति बहुत बदलता है जब वह स्वयं आलोचना करता है। दूसरा कोई कहता है तो तनाव पैदा हो जाता है। वह सोचता है, यह मेरी आदत खराब बता रहा है, अब तो इस आदत को छोड़ूंगा नहीं। किन्तु जब वह स्वयं आलोचना करता है, विश्लेषण करता है तब समझता है कि यह आदत अच्छी नहीं है, इसे बदलना चाहिए। आलोचना के द्वारा यह दृष्टिकोण निर्मित होता है। पहली बात है आलोचना, अपनी वृत्तियों का साक्षात्कार करना, अपने आपको देखना और समझना। दूसरी बात है उस आदत को बदलना। जब व्यक्ति अपनी आदतों को देखता है, उनके परिणामों को देखता है, और उनका विश्लेषण करता है तो अनुभव करता है कि वास्तव में बुरी आदत है और उसका परिणाम भावी पीढ़ी पर पड़ेगा, बच्चे सीखेंगे, मुझे इसे बदल देना चाहिए। तो उपदेश की अपेक्षा आलोचना बहुत महत्वपूर्ण है। उपदेश और शिक्षा के द्वारा एक छोटे बच्चे में भी तनाव आ जाता है। किन्तु जब स्वयं निरीक्षण की वृत्ति जाग जाए, चेतना जाग जाए तो शायद परिवर्तन की बहुत संभावना होती है।

आलोचना के द्वारा निन्दा का भाव पैदा होता है। चौंकिए मत, आलोचना का अर्थ भी बदल गया, निन्दा का अर्थ भी बदल गया है। दूसरे की आलोचना करना और दूसरे की निन्दा करना यह अर्थ यहां प्रासंगिक नहीं है। अध्यात्म में दूसरा कोई है ही नहीं। अध्यात्म मे व्यक्ति अकेला होता है। दूसरा हुआ, वहां अध्यात्म समाप्त हो जाता है। अकेलेपन के अनुभव का नाम है अध्यात्म। जहां दूसरा जुड़ता है वहां अध्यात्म नहीं रहता, वहां आ जाता है व्यवहार। एक के अतिरिक्त है क्या? अद्वैत की भाषा में कहें तो आत्मा एक है। दूसरा है ही नहीं। मात्र मिथ्या मायावाद है। एक से हटकर कोई सत्य नही है। जैन दर्शन की भाषा में कहूं तो आत्मा अकेला है। सचाई है कि आत्मा अकेला है। दूसरा है हमारा व्यवहार। पूरा सत्य नहीं है। सत्य है अकेला, अकेलेपन का अनुभव। वहां दूसरे जैसा कोई शब्द नही है। न दूसरे की कोई आलोचना होती है और न दूसरे की कोई निन्दा होती है। आलोचना होगी तो अपनी होगी और निन्दा होगी तो अपनी होगी। निन्दा का अर्थ भी रूढ़ बन गया। निन्दा को बहुत खराब समझा जाता है। कोई कह दे कि

अमुक तुम्हारी निन्दा कर रहा है तो सिर गरमा जाता है। निन्दा का नाम किसी को अच्छा नहीं लगता। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में आलोचना और निन्दा बड़े मूल्यवान शब्द हैं।

आदत को बदलने का दूसरा सूत्र है—निन्दा। बात अटपटी लगती होगी कि आदत को बदलने का साधन भी निन्दा कैसे हो सकती है! दुश्मन बनाने का साधन और स्नेह बिगाड़ने का साधन तो हो सकती है, पर आदत को बदलने का यह साधन कैसे हो सकती है? अध्यात्म तो उल्टा मार्ग दिखाती है। इस दुनिया में जीने वाले आदमी को वह उल्टा मार्ग ही लगता है। निन्दा का हृदय है अपने आचरणों की मीमांसा करना और उस मीमांसा में जो अकरणीय कार्य आ गया उसका अनुताप करना, उसका अनुभव करना। इसका नाम है निन्दा। मन में अनुताप होता है कि यह काम गलत किया, नहीं करना चाहिए था। अनुताप होना यह है निन्दा। जब तक अपने अकृत कार्य के प्रति, दुष्कृत कार्य के प्रति, अनुताप का भाव नहीं होता तब तक आदत को नहीं बदला जा सकता। वही आदत बदली जा सकती है जिसके प्रति मन में अनुपात का भाव उत्पन्न हो जाए। अकरणीयता का भाव उत्पन्न हो जाए कि यह कार्य मेरे लिए अकृत्य है, गर्हित है, अच्छा नहीं है। मुझे नहीं करना चाहिए। अखाद्य नहीं खाना चाहिए। अपेय नहीं पीना चाहिए। शराब नहीं पीनी चाहिए और तंबाखू नहीं पीनी चाहिए। मुझे क्रोध नहीं करना चाहिए, गाली-गलौज नहीं करना चाहिए। जब नहीं करने की भावना और करने पर अनुताप का भाव होता है तब आदत के बदलने की संभावना पैदा हो सकती है। अन्यथा आदत को नहीं बदला जा सकता। बहुत सारे लोग गलत काम कर जाते हैं और उसे अच्छा समझ लेते हैं। करते भी हैं और उसका अनुमोदन करते हैं, समर्थन करते हैं कि मैंने जो कुछ किया है वह अच्छा किया है। इसीलिए व्यवहार के क्षेत्र में जो यह सूत्र चला कि 'जैसे को तैसा'। व्यवहार के क्षेत्र में यह गलत नहीं है। यह साधना की दृष्टि से गलत है। पर व्यवहार के जगत् में अकृत के प्रति अनुपात नहीं होता, वहाँ फिर 'जैसे को तैसा' चल पड़ता है।

आशुतोषमुखर्जी रेल की यात्रा कर रहे थे। उसी डिब्बे में विदेशी लोग भी बैठे थे। गोरे लोगों में रंग का उन्माद था। हमारे साथ काला आदमी क्यों? इस प्रश्न ने उनके उन्माद को बढ़ा डाला। उन्होंने मुखर्जी के साथ

पहले लंबा-चौड़ा वाद-विवाद किया और उस डिब्बे से उतर जाने को कहा। मुखर्जी स्वयं समर्थ और शक्तिशाली व्यक्ति थे। वे उतरे नहीं। कुछ समय बाद वे सो गए। नींद आ गई। एक विदेशी ने उनके जूते गाड़ी के बाहर फेंक दिए। कुछ समय बीता। गोरे लोग सो गए। मुखर्जी जागे। अपने जूते न देखकर वे समझ गए कि यह गोरे लोगों की हरकत है। एक गोरे का कोट पड़ा था। मुखर्जी ने उसे गाड़ी के बाहर फेंक दिया। विदेशी ने देखा, कोट नहीं है। उसने मुखर्जी से पूछा। मुखर्जी बोले—कोट जूते लाने गया है। सब चुप।

'जैसे को तैसा'—यह व्यवहार का सूत्र है, अध्यात्म का नहीं। यदि मुखर्जी अध्यात्म की दृष्टि से सोचते तो कोट नहीं फेंकते, अपने जूतों का नुकसान सह लेते। पर उन्होंने व्यावहारिक चेतना के स्तर पर वैसा आचरण किया।

जब व्यक्ति में अनुताप की चेतना जागती है तब वहां 'जैसे को तैसा'—इसका अवकाश ही नहीं रहता। ऐसी बात ही नहीं सोची जा सकती। 'जैसे को तैसे' का सिद्धान्त जो चला रहे हैं, वे लोग चला रहे हैं जो अपने दुष्कृत का अनुमोदन और समर्थन कर रहे हैं। जिन लोगों ने अपनी गलती का अनुमोदन और समर्थन करना छोड़ दिया, गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर लिया है उनके मन में 'जैसे को तैसे' का जन्म ही नहीं होता, ऐसी भाषा ही नहीं बनती।

आदत को बदलने का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपाय है—निन्दा। निन्दा का परिणाम है अनुताप। अकृत के प्रति, दुष्कृत के प्रति जब अनुताप पैदा होता है तो मूर्च्छा का चक्र टूटता है। कोई भी आदमी गलत काम मूर्च्छा के कारण करता है। जैसे ही मूढ़ता टूटती है सही आचरण और सही व्यवहार होने लग जाता है। मोह और मूढ़ता के कारण अपने दुष्कृत का समर्थन होता है और फिर मोह का चक्र बढ़ता चला जाता है। जैसे ही यह निन्दा का भाव और अनुताप का भाव जागा, मूर्च्छा की जड़ पर प्रहार होता है और ऐसा प्रहार होता है कि मूर्च्छा को बल नहीं मिलता। वे आदमी मूर्च्छा को बल देते हैं जो अपनी भूल को भूल नहीं मानते। मूर्च्छा को वे ही तोड़ सकते हैं कि जिनमें इतनी शक्ति है कि अपनी भूल को भूल के रूप में स्वीकार कर सकें और उसके लिए खेद का अनुभव कर सकें। वे सचमुच मूर्च्छा पर प्रहार करने वाले लोग हैं। मूर्च्छा में आदमी समझ नहीं पाता कि क्या करना है और क्या

होना है। कभी-कभी बड़ा भ्रम हो जाता है।

भिखारी आया। दरवाजा बन्द था। आवाज दी कि अन्दर से कुछ रोटी मिलनी चाहिए। कोई उत्तर नहीं आया तो फिर आवाज दी कि बीबीजी! कुछ रोटी मिलनी चाहिए। भीतर से आवाज आई, अन्दर बीबी नहीं है। भिखारी ने कहा—मुझे बीबी नहीं रोटी चाहिए।

सच्चाई को नहीं समझा जा सकता। बीबी की जरूरत नहीं है, जरूरत है रोटी की। जरूरत है अनुताप की। भीतर से अनुताप निकलेगा तो मोह टूटेगा, आदत बदलेगी। मूर्च्छा नहीं टूटेगी तो आदत नहीं बदलेगी। आलोचना, अनुताप, निन्दा और मूर्च्छा को तोड़ना, यह एक प्रक्रिया है आदत को बदलने की। इतना होता है तो फिर आदत भी टिक नहीं पाती। उसे भी जाना होता है, बदलना होता है। आदत को हम लोग ही तो पाल रहे हैं। यह बेचारी आई कहां से? हमने ही तो जन्म दिया और हम लोग ही तो पाल रहे हैं।

प्रेक्षा-ध्यान के मर्म को जरा समझना है। इसका मर्म है—अपने आपको देखना। अपने आपको देखना क्यों जरूरी है? अपनी प्रेक्षा किए बिना व्यक्तित्व के रूपान्तरण की बात प्राप्त ही नहीं होती। कोई किसी को बदल नहीं सकता। चाहे माता हो, पिता हो, गुरु हो। गुरु उस शिष्य को बदल नहीं सकता जब तक शिष्य में प्रेक्षा के भाव नहीं जगा देता। माता-पिता अपने पुत्र और पुत्री को नहीं बदल सकते, जब तक उनमें प्रेक्षा के भाव को नहीं जगा देते।

प्रेक्षाध्यान का मूल उद्देश्य है—भावात्मक परिवर्तन। भाव बदलना चाहिए, हमारी आदतों में परिवर्तन आना चाहिए। यदि कोई परिवर्तन नहीं आता है तो फिर किया तो क्या और नहीं किया तो क्या? खाने पर भी भूख नहीं मिटती और न खाने पर भी भूख नहीं मिटती है तो फिर खाने का अर्थ ही क्या है? ऐसा काम ही क्यों करें? कोई काम करें चाहे अच्छा काम या बुरा काम, जिससे कि दूसरों को पता चले कि अच्छा काम किया है या बुरा काम किया है। अच्छा हो तो भी पता होना चाहिए और बुरा हो तो भी पता होना चाहिए। यदि पता न लगे तो अच्छाई भी बेकार और बुराई भी बेकार। अच्छा काम करे और कोई उसे अच्छा न कहे तो मजा नहीं आता और बुरा काम करे और उसे बुरा न कहे तो मजा नहीं आता। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास किया, घर पर गए और दूसरों को कुछ भी परिवर्तन नहीं लगा

तो फिर करने का अर्थ कम हो जाता है। बदलना चाहिए, बदलना बहुत जरूरी है। हमारा ध्यान कोई आकाश में उड़ने के लिए नहीं है कि तुम ध्यान करो और आकाश में उड़ो। प्रेक्षाध्यान पानी पर चलने का चमत्कार नहीं है। आज तो विज्ञान ने ऐसे चमत्कार पैदा कर दिये कि किसी को चमत्कार की साधना करने की आवश्यकता नहीं है। दुनियां का सबसे बडा चमत्कार है अपनी आदतों को बदलना। इससे बड़ा चमत्कार कोई दिखा ही नहीं सकता और जो व्यक्ति अपनी आदत को बदल देता है वह दुनिया का सबसे बड़ा चमत्कारी आदमी है।

आज समाज में बेईमानी, अनैतिकता, अप्रामाणिकता और कितने गलत व्यवहार चल रहे हैं, उन्हें कैसे बदला जाए? यह एक अहंप्रश्न है। मुझे लगता है, केवल वाचिक प्रयत्नों के द्वारा उनमें परिवर्तन आ सके मुझे संभव नहीं लगता। संभव क्या, १०० वर्ष भी हम प्रयत्न करते जाएं तो रहेंगे जहां के तहां, आगे नहीं बढ़ पाएंगे। बिना अभ्यास के बदला नहीं जा सकता। अर्जुन ने कृष्ण से पूछा कि मन इतना चंचल है, इसे कैसे पकड़ा जा सकता है? यह वायु की भांति चंचल है, इसका निग्रह कैसे किया जा सकता है? कृष्ण ने उत्तर दिया कि इस दुनिया में निरुपाय कुछ भी नहीं है। सबका उपाय है। मन के निग्रह का पहला उपाय है—अभ्यास। अभ्यास के द्वारा मन पर नियंत्रण किया जा सकता है। अभ्यास करेगा वह निश्चित पहुंच जाएगा। अभ्यास नहीं करेगा वह हजार वर्ष में भी नहीं पहुंच पाएगा। आदत को बदलने का एक उपाय है अभ्यास। हम अभ्यास ही न करें, चलें ही नहीं तो पहुंच ही नहीं पाएंगे। निश्चित हमें अभ्यास करना पड़ेगा। जितनी समस्याएं हैं वे सारी चंचल मन की समस्याएं हैं। उन्हें बदला जा सकता है अभ्यास के द्वारा। पर अभ्यास के बिना नहीं बदला जा सकता। आज हिन्दुस्तान के लिए बहुत जरूरी है कि अभ्यास पर बल दिया जाए, अभ्यास की बात को आगे बढ़ाया जाए। बदलना है तो अभ्यास शुरू करो। बातें मत करो। कोरा वचन नहीं। कोरा शब्द नहीं। शब्द सुनते-सुनते तो कान भी थक गए। कितनी बार सुना? अब अभ्यास आवश्यक है।

प्रश्न है अखंड व्यक्तित्व का

आज की चर्चा एक कहानी से शुरू कर रहा हूं। भोज हो रहा था और सेठ बहुत मुक्तभाव से व्यवस्था कर रहा था। भोज सम्पन्न होने आया। परंपरा है अन्त में पापड़ परोसने की। पापड़ खाने की चीज तो नहीं है पर इसके बिना भोजन अधूरा माना जाता है। सेठ ने सोचा कि पापड़ मैं स्वयं परोसूं, सबसे मिल भी लूं और भोज की प्रशंसा जान भी लूं। सेठ चला। पापड़ परोसता जा रहा था। एक आदमी जो साधारण था, उसका नम्बर आया और योग कोई ऐसा मिला कि पापड़ परोसा और वह कोई खंडित पापड़ था, टूटा हुआ था। उसने देखा, और देखते ही उसके मन में रोष का ज्वार आ गया। उसने सोचा, सेठ कितना नालायक है, जो बड़े-बड़े आदमी हैं उन सबको तो पूरा पापड़ परोस रहा है और मुझे टूटा हुआ खंडित पापड़ परोस रहा है। वह सहन नहीं कर सका। उसके मन में क्रोध की ज्वालाएं भभक उठीं। सोचा कि बदला लूंगा। वह बहुत संपन्न हो गया। कुछ दिनों के अन्तराल से उस साधारण व्यक्ति ने एक भोज का आयोजन किया। बड़ा भोज, बड़े-बड़े लोगों को बुलाया। वह सेठ भी आया। बढ़िया खाना परोसा गया। सबने जी भर खाया। अब पापड़ परोसने का समय आया। वह छाबड़ी लेकर चला। सबको पूरा पापड़ परोसा और उस सेठ का नम्बर आया तो उसे आधा पापड़ परोसा। कोई बात नहीं थी। सेठ ने ध्यान ही नहीं दिया था। आधा आया तो आधा आया। जब उसने देखा कि सेठ ने ध्यान ही नहीं दिया है तब उसका मजा किरकिरा हो गया, प्रतिशोध का आनन्द नहीं आया। वह रुककर सेठ से बोला—सेठजी ! याद है वह दिन, जब आपने मुझे खंडित पापड़ परोसा था।' सेठ बोला, मुझे तो याद ही नहीं था। वह बोला—'ओह ! मैंने तो इतना कर्ज लेकर भोज दिया, प्रतिशोध लिया और आपको याद ही नहीं रहा।' सेठ ने कहा, मूर्ख ! क्यों तो कर्जदार बना, मुझे पहले ही पूछ लेता। तो समस्या है खंडित पापड़ की और खंडित व्यक्तित्व की।

व्यक्तित्व भी जब खंडित होता है और किनारे टूट जाते हैं, पापड़

खंडित होता है तो एक बड़ी समस्या है। व्यक्ति प्रतिक्रिया पैदा करता है और फिर दूसरे को भोज का आयोजन करना पड़ता है। ये सारी प्रतिक्रियाएं जो चलती हैं वे खंडित व्यक्तित्व की चलती हैं। प्रतिक्रिया कि उसने ऐसा किया तो मुझे भी ऐसा करना है। ये सारे खडित व्यक्तित्व के परिणाम हैं।

समस्या का एक बहुत सचोट समाधान है—अखंड व्यक्तित्व का निर्माण। मनोविज्ञान में दो शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं—डुवेल पर्सनेलिटी, नोन-डुवेल पर्सनेलिटी। खंडित व्यक्तित्व बहुत खतरनाक है। अखंड व्यक्तित्व की बहुत आवश्यकता है। पर वह हो कैसे! जब तक दोनों आंखें ठीक काम नहीं करतीं, व्यक्तित्व अखड नहीं बनता। पता नहीं, सृष्टि का यह क्या नियम है कि जब एक आंख काम करती है तब दूसरी आख खुली तो रहती है, पर काम नहीं करती। आप ध्यान दें, हमें ऐसा लगता है दोनों आंखों से देखते हैं। दोनों आंखों से देखते हैं, पर कभी दोनों में से एक आंख को बन्द कर देखें तो पता लगेगा कि एक से ठीक दिखाई देता है और दूसरी से कम या धुंधला दिखाई देता है। दोनों आंखों से कम लोगों को बराबर दिखाई देता है। दोनों कानों से सुनाई बराबर नहीं देता। एक से ज्यादा सुनाई देता है। प्रकृति का नियम है कि हम दोनों आंखो से ठीक देख नहीं पा रहे हैं। एक आंख से देखते हैं। एक बन्द हो जाती है। काम करना बन्द कर देती है। एकांगी दृष्टिकोण पनपता है। किसी ने धर्म को पकड़ा तो सम्प्रदाय को छोड़ दिया। किसी ने सम्प्रदाय को पकड़ा तो धर्म को छोड़ दिया। एकांगी दृष्टिकोण हो गया। यह समस्या एकागी दृष्टिकोण का परिणाम है। एक आंख से देखने का परिणाम है। दोनों आंखें बराबर काम करे, ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण हमें करना है।

भगवान् महावीर ने दो नयों का प्रतिपादन किया—निश्चयनय और व्यवहारनय। काम चलाना है तो व्यवहार की भूमिका पर रहो। जहां सत्य को पाना है तो निश्चय की भूमिका पर चले जाओ। व्यवहार में सत्य को पाना कठिन और निश्चय में जाने पर जीवन को चलाना कठिन। दोनों चलाने हैं। जीवन यात्रा को भी चलाना है और सत्य को भी पाना है। हमें अखंड व्यक्तित्व का निर्माण करना है। हमारा व्यक्तित्व अखंड बने। दोनों दृष्टियों से बराबर काम लें। कुछ लोग निश्चय पर बहुत उतर आते हैं तो कुछ व्यवहार पर। जो लोग व्यवहार पर जाते है उन्हें सचाई उपलब्ध नहीं

होती। जो केवल निश्चय पर जाते हैं उन्हें सत्य की यात्रा प्राप्त नहीं होती। दोनों का संतुलन चाहिए। अखंड व्यक्तित्व के लिए जानना, देखना और अनुशीलन करना बहुत आवश्यक बात है। प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग अध्यात्म का प्रयोग है। प्रेक्षा-ध्यान को समझने वाले और प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाले अध्यात्म का प्रयोग कर रहे हैं। धर्म के उस रूप का प्रयोग कर रहे हैं जो भीतर मे ले जाता है। बाहर की सीमाएं समाप्त हो जाती हैं। बहुत अन्तर है बाहर मे और भीतर में। बाहर में हमे जो सत्य लगता है, भीतर में चले जाने पर उसकी सचाई समाप्त हो जाती है। बाहर में जो अच्छा लगता है भीतर में जाने पर कुछ दूसरी अच्छाई सामने आ जाती है।

जिस व्यक्ति ने अध्यात्म का अनुभव नहीं किया उस व्यक्ति का व्यक्तित्व अखंड नहीं हो सकता। धर्म के सारे लोग कहते हैं कि इन्द्रियों का सुख दुःख है। खाना-पीना, मौज-मजा करना, ऐसो आराम करना—ये सारे खराब हैं, दुःख हैं। क्या यह बात आपके समझ में आएगी? कौन मानेगा? ऐसा लगेगा कि कहने वालों ने सही नही कहा, गलत कहा। यह बात, जो आदमी इन्द्रिय जगत् में जीता है उसे बिल्कुल झूठी लगेगी। वह तो कहेगा कि बिल्कुल आनन्द भोग रहा हूं, आनन्द आ रहा है। भूख लगी और रोटी खाई, तृप्त हो गया। प्यास लगी, पानी पिया और तृप्त हो गया। नींद आ रही है, मजे से नींद ली। सारा सुख ही सुख लगता है। वह इस बात को कैसे सच मानेगा, किन्तु जिस व्यक्ति ने अपने भीतर में प्रवेश किया है और भीतर में झांका है, अपने चैतन्य केन्द्रों को सक्रिय बनाया है, आनन्दकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र को सक्रिय बनाया है, वह व्यक्ति समझ सकता है कि सुख क्या है? सुख बाहर है या भीतर है, उस सचाई को वह पकड़ सकता है। जब दर्शन-केन्द्र के प्रकम्पन चालू होते हैं और जब आनन्दकेन्द्र के प्रकम्पन चालू हं [illegible] उस समय जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वह सोचता है कि ऐसा [illegible] खाने में भी नहीं है और पीने मे भी नहीं है, किसी पदार्थ के भोग [illegible] है। यह बहुत बढ़िया सुख है। अब उस भूमिका पर पहुंचा हुआ आदमी [illegible] सकता है कि अध्यात्म के आचार्यों ने जो बाहर के सुख को सुख नहीं कहा, वह सापेक्षदृष्टि से नहीं कहा। उनकी तुलना में, आन्तरिक अनुभव की तुलना में, वे बहुत फीके हैं, कमजोर हैं। किन्तु जिस व्यक्ति ने भीतर कभी झांका ही नहीं उसका व्यक्तित्व कैसे अखंड बन सकता है? वह तो उसे समझ ही नही सकता। बहुत बार ऐसा होता है कि सचाई को समझना बड़ा मुश्किल

हो जाता है।

एक ग्रामीण आदमी एक बार शहर में चला गया। साथ में कुछ दोस्त थे। सबने कहा कि चलो, आज सिनेमा देखें। सिनेमा घर में चला गया। सिनेमा चालू होने वाला था। बत्तियां बुझा दी गईं। ग्रामीण बोला, देखो, कितने मूर्ख हैं अंधेरा कर दिया और इस अंधेरे में हमें क्या खाक दिखाएंगे! हम देखने आए हैं कि अंधेरे मे बैठने आए हैं? अब उसे क्या पता कि सिनेमा कैसे दिखाया जाता है! उसे अनुभव ही नही था, उसे पता ही नही था।

आपसे कहा जाए कि एक घंटा रोटी मत खाओ, जरा भीतर में जाओ, भीतर में झांको। आप सोचेंगे कि रोटी खाने से तो पेट की भूख मिटेगी और भलां ध्यान में बैठे रहेंगे तो क्या मिलने वाला है। जिन लोगों ने भीतर मे झांका है और देखा है और भीतर जाने का अभ्यास किया है वे एक घंटा, दो घंटा और चार घंटा रोटी को छोड़ देते हैं, पर झांकना नहीं छोड़ते।

एक युवक नया नया आया था शिविर में। अभ्यास शुरू किया था। उसकी हमेशा शिकायत रहती थी कि उससे आधा घंटा से ज्यादा एक स्थान पर बैठा ही नहीं जाता। बड़ी चपलता रहती। एक दिन ऐसा योग मिला, उसका ध्यान दर्शनकेन्द्र पर अटक गया। यहां उसे इस प्रकार के सुखद कंपन पकड़ में आ गये कि एक घंटा और बीत गया, दो घंटा प्रतिमा की भांति बैठा रहा। फिर मेरे पास कुछ लोग आकर बोले, न जाने क्या हो गया है, वह नहीं उठ रहा है। घर वालों को भी चिंता हो गई। बहुत जागने पर तो चिन्ता नहीं होती है पर ध्यान की गहराई में जाने पर चिन्ता हो जाती है। घबरा गए। मैं वहां गया और जाकर उसे कुछ सुनाया। उसके दर्शन केन्द्र का स्पर्श किया और वह खड़ा हो गया। उसने कहा कि मुझे अभी क्यों उठा दिया। वह उठना नहीं चाहता था। हमने बताया कि दो घंटा बैठे हो गए। उसने कहा कि दो और चार क्या? इतना आनंद आ रहा था कि इसे तोड़ ही नही पा रहा था। सुख में इतना उलझ गया था कि उसे तोड़ नही पा रहा था। प्रकंपनो का ऐसा तांता लग जाता है कि आदमी उसे तोड़ नहीं पाता।

आदमी लोभ को छोड़ नही पाता। तो ठीक यही बात है कि जब ध्यान के सुखद प्रकम्पन जागृत होते हैं, उन प्रकम्पनों में आदमी उलझ जाता है, तब छोड़ने की स्थिति नही बनती। निरन्तर वह चलता ही रहता है। यह
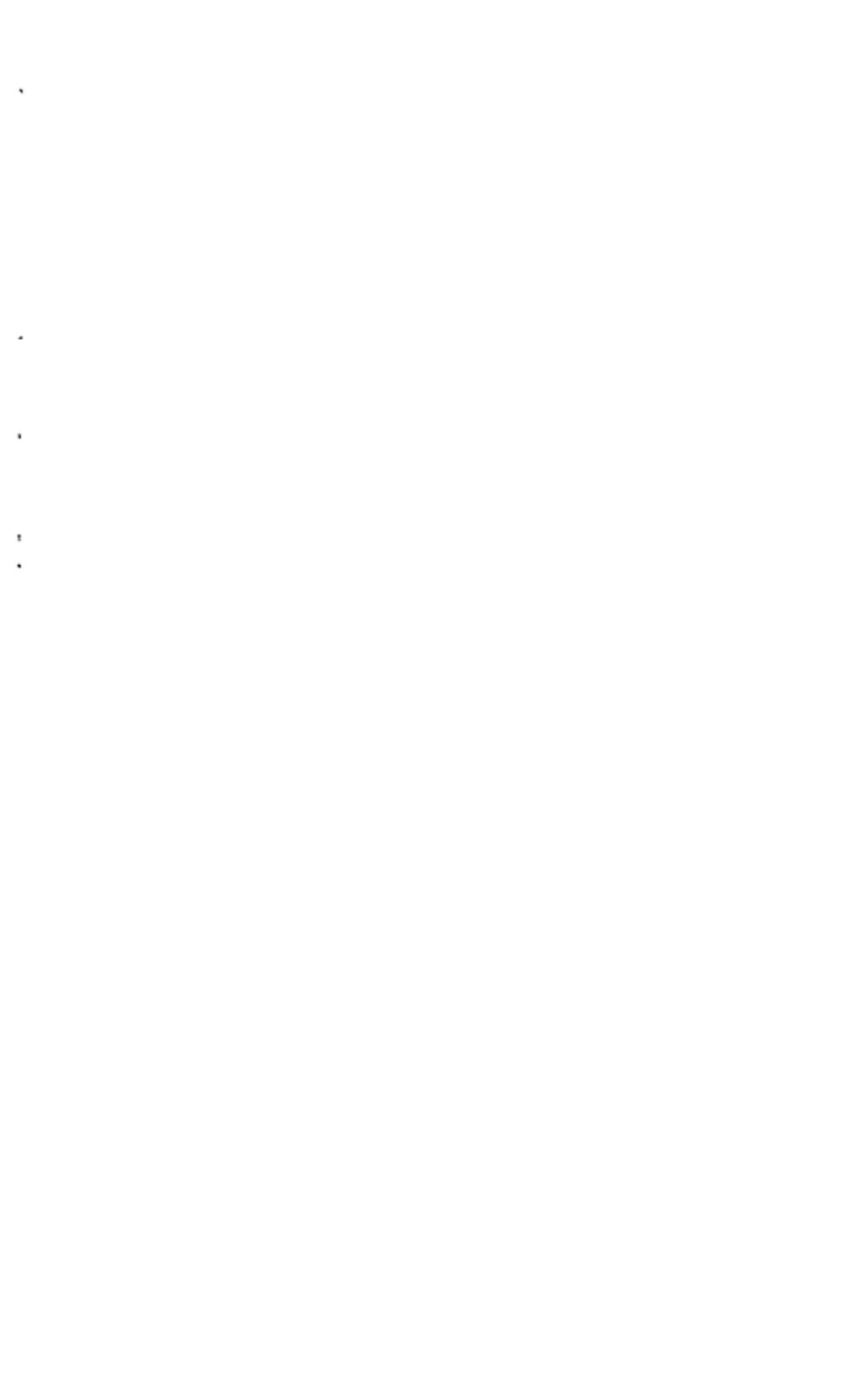
है। मन की स्थिति बदलती है और सुख की स्थिति बदल जाती है। यह सचाई तब समझ में आती है जब हम बाहर में भी जीते हैं और भीतर मे भी जीते हैं। हमारा अखंड व्यक्तित्व तब बनता है जब बाहर मे और भीतर मे दोनों में रहते हैं।

जो बाहर में रहते हैं और कभी भीतर मे नहीं जाते उनका व्यक्तित्व कभी अखंड व्यक्तित्व नही बन सकता। खंडित व्यक्तित्व में गलत मान्यताएं बहुत चलती हैं। आज सांप्रदायिक कट्टरता जो चल रही है, इसका कारण है खंडित व्यक्तित्व। लोग अपने संप्रदाय को इतना मान बैठते हैं कि उसकी सुरक्षा के लिए दूसरे को हानि पहुचाने में उन्हें कोई दर्द नहीं होता, कोई कष्ट नहीं होता। अपने संप्रदाय को ऊचा और दूसरे को नीचा करने मे उन्हे कोई संकोच नहीं होता।

संप्रदाय की अन्तरात्मा में अध्यात्म होता है, होना चाहिए। जिस संप्रदाय की अन्तरात्मा में अध्यात्म नही है, वह संप्रदाय भला नही करता, लोगों को लड़ाता है। बहुत बार प्रश्न आता है कि धर्म के कारण लड़ाइयां बहुत होती हैं। धर्म के कारण लड़ाइयां बहुत हुईं यह कहने की अपेक्षा यह कहना अच्छा होता कि संप्रदाय के कारण लड़ाइयां बहुत हुईं। धर्म के कारण कभी लड़ाई हो ही नहीं सकती। धर्म का मतलब है कि चेतना को पवित्र करना। बस, इतना ही अर्थ है। धर्म का अर्थ है त्याग और धर्म का अर्थ है संयम। धर्म का अर्थ है चेतना को निर्मल और पवित्र बनाना। जहां त्याग होगा, संयम होगा, व्रत होगा चेतना का निर्मलीकरण होगा। सारी लड़ाइयां हैं भोग, असंयम और मलिन चेतना की। हुई लड़ाईयां संप्रदाय के कारण और हमने आरोपण कर दिया धर्म पर। कहीं का भार कहीं पर लाद दिया। भार किसी पर लादना था और लाद दिया किसी और पर। कभी-कभी ऐसा होता है। भ्रमवश आदमी ऐसा विपर्यय कर देता है, करना होता है कुछ और कर डालता है कुछ। यदि हम धर्म के नाम पर ऐसा आरोपण करेंगे तो धर्म की छवि धुंधली होगी और समाधान भी नही होगा। हम इस बात को समझें कि यह सब उस संप्रदाय के कारण हो रहा है जिस संप्रदाय ने अपने अनुयायियों को अध्यात्म में जाना नही सिखाया, जिस सम्प्रदाय ने अपने अनुयायियों को भीतर में झांकना नहीं सिखाया, जिस संप्रदाय ने अपने अनुयायियों को प्रेक्षा करना और आत्मालोचन करना नही सिखाया। वह संप्रदाय उन अनुयायियों का बहुत भला नहीं कर सकता। अखंड व्यक्तित्व उनका नहीं बना

सकता। वह अकल्याणकारी बन जाता है।

आज जो अनैतिकता की समस्या है वह खंडित व्यक्ति के कारण है, केवल संप्रदाय के कारण है। संप्रदाय ने कर्मकाण्ड को पकड़ा है। अनुयायियों ने इतने मे संतोष मान लिया कि उपासना करो, जप करो और क्रियाकाण्ड करो। सब कुछ करो, किन्तु नैतिक बनना अनिवार्य है, यह बात नहीं सिखाई। इसीलिए आज जितना धर्म चलता है उतनी ही अनैतिकता चल रही है। यदि धर्म का, संप्रदाय का यह पहला पाठ होता कि पहले तुम्हे नैतिक बनना है और बाद में उपासना और पूजा-पाठ करना है। तो धर्म की स्थिति दूसरी होती। गौण बात पकड़ा दी गई और मूल बात को छुड़ा दिया गया। बहुत बड़ी समस्या है। मैं जो नैतिकता की चर्चा कर रहा हूं वह इस बन्धी-बन्धाई नैतिकता की नही कर रहा हूं। आज तो कानूनी भाषा में भी नैतिकता उलझ गई। कानून के इतने दांव-पेच और इतनी जटिलताए आ गई कि नैतिकता को समझना भी मुश्किल हो गया है। मैं तो उस नैतिकता की चर्चा कर रहा हूं, जहां व्यक्ति की क्रूरता मिट जाए और करुणा जाग जाए। इसका नाम है नैतिकता। दूसरे व्यक्ति के साथ क्रूर व्यवहार न करे, दूसरे को धोखा न दे, अपने चित्त की निर्मलता रखें, यह है नैतिकता। अगर इतना हो जाए तो आज हिन्दुस्तान की स्थिति बदल जाए। कानूनी बात को एक बार छोड़कर आप सोचें कि आप अपने लोभ के कारण या स्वार्थ के कारण दूसरे व्यक्ति के साथ क्रूर व्यवहार तो नहीं कर रहे हैं? दूसरे के साथ अन्याय तो नही कर रहे है? दूसरे को धोखा तो नही दे रहे हैं? तीन प्रश्न आप अपने आपसे पूछ लें तो आप नैतिक बन जाएंगे। कानून की आड हो सकती है। अधिकांश बुराइयां व्यक्ति अपने लोभ, स्वार्थ और क्रूरता के कारण करता है। जो लोभी है वह क्रूर न हो यह कभी हो नहीं सकता। जो लोभी होगा उसे निश्चित क्रूर बनना पड़ेगा। क्रूरता के बिना लोभ का संवर्धन नहीं हो सकता। यह सारा क्रूरता के कारण ही हो रहा है। चाहे सत्ता का लोभ हो, चाहे अधिकार का लोभ हो, चाहे पैसे का लोभ हो और चाहे प्रतिष्ठा का लोभ हो, अपने प्रतिद्वन्द्वी को बहुत सारे लोग मरवा डालते हैं, चुनाव में मरवा डालते हैं। इसके पीछे भी उनका लोभ ही काम करता है। वह सोचता है, प्रतिद्वन्द्वी रहेगा तो मैं विजयी नही बन सकता। वह मेरे आगे आएगा। वह रहा तो मैं मंत्री नहीं बन सकता। न जाने कैसे-कैसे विचारों में ऐसा होता है? जब तक लोभ की वृत्ति नहीं बदलती, तब तक क्रूरता नही मिटती और क्रूरता नही मिटती तब तक आदमी नैतिक नही बनता और जब तक

नैतिक नहीं बनता तब तक वह धार्मिक नहीं बन सकता। अगर यह पाठ हमारे धार्मिकों ने पढ़ाया होता तो शायद दूसरी स्थिति बनती। पर ऐसा, लगता है कि यह पाठ कम पढ़ाया गया। सीधा पाठ पढ़ाया गया कि यह उपासना करो, वह क्रिया करो। इतने कर्मकाण्ड जोड़ दिये कि उसमें कुछ करना नहीं पड़ता यानी अपना स्वार्थ नहीं छोडना पड़ता और सोचता है कि मैं धार्मिक बन गया। उसका व्यक्तित्व खंडित रह जाता है।

इस सारे संदर्भ में प्रेक्षाध्यान का मूल्यांकन करें। यह अध्यात्म की प्रक्रिया है, कोई संप्रदाय की प्रक्रिया नहीं है। शुद्ध अध्यात्म की प्रक्रिया है, यानी अपने भीतर देखने की प्रक्रिया है। अपनी सफाई करने की प्रक्रिया है। सफाई करना बहुत जरूरी है। जब तक कूड़ा-कचरा भीतर रहेगा आप स्वस्थ नहीं रह सकते। स्वस्थ होने के लिए कूड़े-कचरे को निकालना बहुत जरूरी है। स्वस्थ होने की सबसे पहली प्रक्रिया है, सफाई करना। जितना मल जमा है, कूड़ा-करकट जमा है, उसकी सफाई हो जाए, अपने आप स्वास्थ्य प्रगटेगा। स्वास्थ्य प्रगटता है, स्वास्थ्य को लाना नहीं होता।

हमारे विचारों में और भावों में बहुत सारी मलिनताएं आती रहती हैं। जब तक भीतर नहीं झांकते तब तक सफाई नहीं होती। ज्यों ही भीतर देखना शुरू किया और सफाई शुरू हो जाती है। कूड़ा निकलना शुरू हो जाता है। भीतर देखने का एक बहुत बड़ा परिणाम है कि जितने विजातीय कण जमा पड़े हैं आप देखना शुरू करेंगे तो विजातीय तत्त्वों का आसन डोल जाएगा। बाहर निकलना पड़ेगा, फिर भीतर रह नहीं सकते।

जिसने भीतर मे देखा, उसने सफाई का अभियान शुरू कर दिया। इसके द्वारा व्यक्तित्व अखंड बन जाएगा। आप फिर इस सूत्र को याद करें कि अखंड व्यक्तित्व के लिए हमें दो दिशाओं में प्रस्थान करना है, बाहर को भी देखना है और भीतर को भी देखना है। न केवल बाहर और न केवल भीतर। दोनों एकांगी बातें हो जाएंगी। हमारी यात्रा भीतर भी चले और बाहर भी चले। इन दोनों कोणों से हम देखें और सोचें तो हमारा दृष्टिकोण सर्वांगीण होगा, अखंड बनेगा और फिर जो भीतर के कारण बाहर की समस्याएं उलझ रही हैं उन्हें सुलझाने का मौका मिलेगा। हम बाहर की समस्याओं का समाधान भी पा सकेंगे और भीतर की समस्याओं का समाधान भी पा सकेंगे। इन सारी समस्याओं का समाधान पाने के लिए अखंड व्यक्तित्व की जरूरत है और अखंड व्यक्तित्व के निर्माण के लिए बाहर और भीतर—दोनो ओर झांकने की जरूरत है।

प्रश्न है नियोजन का

जो समय से प्रतिबद्ध होता है वह पूरा हो जाता है। समयातीत कभी पूरा नहीं होता। भारतीय चिंतन में इसीलिए काल और कालातीत दोनों सत्यों पर विचार किया गया। एक है कालबद्ध सत्य और दूसरा है कालातीत सत्य। शाश्वत और अशाश्वत। अशाश्वत है वह पूरा हो जाता है। जो शाश्वत है वह त्रैकालिक है, कभी पूरा नहीं होता।

शिविर में आना दस दिन के लिए, यह कालबद्ध है और शिविर में जो पाया, वह कालातीत है। वह काल से अतीत होना चाहिए। जो पाया, उसे बचाना है, बढ़ाना है। पर एक समस्या बहुत बड़ी है और वह है काल की, समय की। किसी भी आदमी से पूछो कि भाई तुम स्वाध्याय करते हो? वह कहेगा, नहीं करता। क्या पढ़ने की रुचि नहीं है? वह कहेगा, रुचि तो है पर समय नहीं है। पढ़ने का भी समय नहीं मिलता, ध्यान करने का भी समय नहीं मिलता, और भी बहुत सारे काम करने का समय नहीं मिलता। यानी मंहगाई बहुत बढ़ी है, पर जितनी मंहगाई समय की बढ़ी है उतनी किसी की भी नहीं बढ़ी है। समय इतना मंहगा हो गया है कि चाहे बहुत बड़ा उद्योग व्यापार करने वाला हो और चाहे साधारण मजदूरी करने वाला हो, हिन्दुस्तान के शासन को चलने वाला हो और चाहे हिन्दुस्तान से संबन्ध न रखने वाला हो, सबके पास समय की कमी है। कोई भी इसका अपवाद कैसे होगा? मैंने इस प्रश्न पर बहुत बार सोचा कि मंहगा हो गया समय और इतनी बड़ी शिकायत कि समय नहीं मिलता, क्या सचमुच यह समस्या है? सोचने के बाद निष्कर्ष पर पहुंचा कि कमी समय की नहीं है, कमी नियोजन की है। लोग नियोजन करना नहीं जानते। समय तो बहुत है। २४ घंटा किसको कहते हैं! इतना लंबा-चौड़ा है एक दिन का समय कि इसमें तो आदमी चाहे जितना काम कर सकता है। पर नियोजन के अभाव में इस समस्या का भी समाधान नहीं हो सकता। हम व्यवस्था करना नहीं जानते, नियोजन करना नहीं जानते। चौबीस घंटों में से काम में से मुश्किल से किसी का छह या आठ घंटा लगता होगा। बाकी समय तो निकम्मा ही जाता है।

और छह घंटा या सात घंटा नींद का मान लें। बारह घंटा को निकाल भी दें, तो शेष बारह घंटा बचते हैं। करते क्या हैं ? लगभग निकम्मा काम होता है।

जीवन के दो पहलू हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। हर समय को दो भागों में बांट दें। कल मैंने अखण्ड की बात कही थी, आज खंड की बात कर रहा हूं। क्योंकि अखंड और खंड दोनों साथ चलेंगे। केवल अखंड समझ में नहीं आता और केवल खंड अच्छा नहीं होता।

खंड की उपयोगिता खंड मे है और अखंड की उपयोगिता अखंड में है। जहां अखंड की जरूरत है वहां समग्रता चाहिए। उपयोगिता में खंड करना होता है। सत्य को पकड़ना होता है तो अखंड रूप से पकड़ना होता है। व्यवहार को चलाना है तो उसे खंड-खंड मे बाटना होता है। हर चीज को हम बांट देते हैं, तो जीवन को भी बांटना है। हमारे जीवन के दो भाग हो जाते हैं—एक वैयक्तिक जीवन और दूसरा सामाजिक जीवन। आज समाजवाद की बहुत चर्चा है। सामाजिकता की बहुत चर्चा है। परिणाम यह आया कि व्यक्ति को बिलकुल भुला दिया गया। पुराने जमाने में व्यक्ति की बहुत चर्चा थी। परिणाम यह हुआ कि समाज को भुला दिया गया। दोनों ओर अधूरापन है। हम एक बात को छोड़ने के आदी हैं। यानी दोनों आंखों से देखना जैसे हमें पसंद ही नहीं। एक आंख से देखेंगे तो एक आंख को बन्द कर लेंगे। दोनों आंख से देखना हमे पसंद ही नही, क्योंकि हर आदमी के मुह पर घूंघट पडा है और वह उस घूंघट को खोलना नहीं चाहता। महिलाओं ने तो घूंघट खोल दिया पर वास्तविक घूंघट को कोई भी खोलना नहीं चाहता, न महिलाएं खोलती हैं और न पुरुष। व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ने समाज को भुला दिया। आज समाज की चर्चा है तो व्यक्ति को भुला दिया गया। यह अच्छा नही है। जीवन के दोनों भागों पर ध्यान देना जरूरी है। वैयक्तिक जीवन पर ध्यान देना भी बहुत जरूरी है और सामाजिक जीवन पर भी ध्यान देना बहुत जरूरी है। व्यक्ति स्वस्थ नही है तो समाज स्वस्थ नही बनेगा। समाज स्वस्थ नही है तो व्यक्ति स्वस्थ रह नहीं पाएगा।

वैयक्तिक जीवन के तीन पहलू होते हैं—शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और भावनात्मक स्वास्थ्य। शरीर अस्वस्थ है तो अच्छा नही है, बाधाएं आती हैं। मन अस्वस्थ है तो उसमे भी खराब और भावना अस्वस्थ

है तो उससे भी खराब। सबसे पहले हमारी भावनाएं स्वस्थ रहें, हमारा अपने आवेगों पर नियंत्रण करने का जो प्रभुत्व है और जो क्षमता है वह बनी रहे। हम अपने आवेगों पर नियंत्रण कर सकें। बहुत आदमी ऐसे होते हैं कि अपने आवेगों पर नियंत्रण नहीं कर पाते। तत्काल बह जाते हैं। भावना सब में होती हैं। क्रोध, लोभ, भय, घृणा, काम-वासना सब में होते हैं। वे लोग स्वस्थ होते हैं जो इन आवेगों पर अपना नियंत्रण कर लेते हैं। और जो नियंत्रण नहीं रख पाते, वे अपराधी बन जाते हैं और बुराइयां करते हैं।

जो अपने पर नियंत्रण नहीं रख सकते वे कभी स्वस्थ नहीं हो सकते। सबसे पहले तो व्यक्तिगत बात है, वैयक्तिक स्वास्थ्य की। वह है भावनाओं पर नियंत्रण रखने की। आप लोग प्रेक्षाध्यान का अभ्यास कर रहे हैं। इसका उद्देश्य समझ लेना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य गौण बात है, मुख्य बात है भावनात्मक स्वास्थ्य। आपमें अपने आवेगों पर नियंत्रण करने की क्षमता बढ़नी चाहिए। आवेग न आए, इस भूमिका पर तो पहुंचने में बहुत समय लगता है। पर इतना तो अवश्य हो कि आवेग आए और अपना परिणाम न बिगड़े। उस पर हम नियंत्रण कर सकें इतना हो जाए तो भी बहुत बड़ी बात है। प्रेक्षाध्यान का मतलब है भावनात्मक परिष्कार। भावों का भी इतना परिष्कार करें कि गुस्सा आना भी कम हो जाए और सहन करने की शक्ति भी बढ़ जाए। कदाचित् क्रोध आए तो भी मुंह से बाहर न निकले, होठ बिल्कुल सिले रहें।

गुस्से को निष्फल करने का वही प्रयोग है जो मन की चंचलता को कम करने के लिए किया जाता है। गुस्सा आने लगे तो जीभ को उलट लो तालु की ओर। गुस्सा आएगा पर गुस्से का फल नहीं होगा। बोलने से गुस्सा ज्यादा बढ़ता है। दो आदमी हैं, एक बोल रहा है और दूसरा भी बोलने लग जाएगा तो उसको उभार मिलेगा। एक बोलता है, दूसरा जीभ को तालु की ओर ले जाता है, खेचरी मुद्रा कर लेता है, तो गुस्सा कमजोर हो जाएगा। सामने वाले का भी गुस्सा कमजोर हो जाएगा। गुस्सा करने वाले को मजा तब आता है जब सामने वाला गुस्सा करे। सामने वाला गुस्सा नहीं करता है तो वह यह सोचता है कि मैं अकेला रह गया।

यह नियंत्रण का प्रयोग है। न केवल गुस्से के लिए, कोई भी आवेश की तरंग उठे तो तत्काल जीभ को उलट लें। आपकी भावना का वेग शान्त हो जाएगा। वैयक्तिक स्वास्थ्य का पहला घटक है—भावनात्मक स्वास्थ्य।

जब आपकी भावना ठीक है तो मानसिक स्वाध्य भी ठीक होगा, मन भी ठीक होगा। क्रोध आता है तो मन बहुत भटकता है। न जाने कितने तरह के विचार आते हैं कि ऐसा करूंगा, वैसा करूंगा। जब क्रोध नहीं, भय नहीं, तो मन को भटकने का मौका कहां से मिलेगा। अपने आप वह शान्त रहेगा। तब मानसिक स्वास्थ्य रहेगा। जब भावनात्मक स्वास्थ्य है तो शरीर अपने आप स्वस्थ रहेगा। शरीर को बीमार बनने का मौका ज्यादा मानसिक और भावनात्मक बीमारियों के कारण मिलता है। छोटी-मोटी बीमारियां तो कीटाणु बेचारे पैदा कर देते हैं, किन्तु बड़ी बीमारी तो मन ही पैदा करता है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया है। जब ये तीन प्रकार के स्वास्थ्य हैं तो व्यक्ति का निर्माण होगा और यदि ये नहीं हैं तो व्यक्ति का निर्माण नहीं हो सकेगा। इस अर्थ में प्रेक्षाध्यान व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया है।

आप समाज को छोड़कर जीने की कल्पना नहीं कर सकते। आप व्यापारी हैं, कपड़े का व्यापार करते हैं, कपड़ा कहां से आया? रोटी खाते हैं, अनाज कहां से आया? दूध पीते है, दूध कहां से आया? पानी पीते हैं, पानी कहां से आया? उसके पीछे कितनी प्रक्रिया है? आप श्वास लेते हैं। श्वास लेना तो बहुत सीधा काम है। पर श्वास लेने के पीछे कितनी मांसपेशियों को काम करना पड़ता है। एक श्वास लेते हैं तो सत्तर-अस्सी मांस-पेशियों को काम करना पड़ता है। आप एक कपड़ा पहनते हैं, एक रोटी खाते हैं तो उसके पीछे हजारों-हजारों ही नहीं, लाखों तक चली जाएगी शृंखला। हजारों आदमियों का श्रम जब प्राप्त होता है तब एक रोटी या कपड़ा प्राप्त होता है। पूरा जीवन समाज पर निर्भर है। उस स्थिति में यदि समाज स्वस्थ नहीं है तो व्यक्ति कैसे स्वस्थ रह पाएगा? प्रेक्षाध्यान का प्रयोग वैयक्तिक स्वास्थ्य का प्रयोग है। साथ में सामाजिक स्वास्थ्य का भी प्रयोग है। और इस दृष्टि से है कि समाज को अस्वस्थ बनाने की वृत्तियां बदलेंगी तो समाज भी स्वस्थ बनेगा।

लोभ की वृत्ति, संग्रह की वृत्ति और स्वार्थ की वृत्ति समाज को बीमार बनाती है, अस्वस्थ बनाती है।

डाक्टर लोहिया बैठे थे, बातचीत कर रहे थे। उस समय मेरे पास प्रभुदयाल डाबड़ीवाल और शिवचन्द डाबड़ीवाल—दोनों बैठे थे। डा० लोहिया बड़े तेज-तर्रार आदमी थे। बात चल पड़ी। बातचीत के दौरान डा० लोहिया ने कहा—देखो, शिवचन्दजी! अगर हमारी क्रान्ति सफल हुई तो

सामाजिक जीवन का पहला यूनिट है—परिवार। जिसका पारिवारिक जीवन ही अच्छा नहीं होता वह समाज के लिए भी बहुत अच्छा नही बनता। वह भी सामाजिक जीवन है हमारा। दस आदमी एक साथ रहते हैं। अगर व्यक्ति का पारिवारिक जीवन अच्छा नहीं है तो वह समाज के लिए भी बहुत भला नही करेगा। यह प्रयोग शुरू होना चाहिए पारिवारिक जीवन से। जिन लोगों ने ध्यान का प्रयोग शुरू किया है, जिन लोगों का पारिवारिक जीवन बदल जाना चाहिए। उसमें सबसे बड़ी बात है असहिष्णुता की वृत्ति को बदलना। आज की बहुत बड़ी समस्या है, दूसरे को सहन न करना। भला, कोई कह दे किसी को! स्वतंत्रता का युग है। पिता अपने पुत्र को कोई बात कह दे तो बेटा सोचता है कि कौन कहने वाले होते हैं। तत्काल गुस्से में आ जाता है, सहन नही करता। कोई किसी को सहन नही करता। यह असहिष्णुता की बीमारी व्यापक बीमारी है, कि जिसका कोई इलाज ही नही हो रहा है। जिस समाज में अहंकार ज्यादा होता है वह समाज स्वस्थ नहीं हो सकता। प्रेक्षाध्यान के द्वारा एक बात सीखने की है। वह है विनम्रता, अहंकार का वर्जन करना, अहंकार को मिटाना। अगर अहंकार मिटेगा तो असहिष्णुता की बीमारी अपने आप मिट जाएगी। अहंकार नही मिटा तो आप कभी सहिष्णु बन ही नहीं सकते। सारी चोट होती है अहंकार पर। छोटा बच्चा भी सोचता है कि मुझे कौन कहने वाला होता है पिता! कौन होती है मा! इतना अहंकार!

यह मान लिया गया कि पर्सनल लाईफ है, उसमे किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। वैयक्तिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नही कर सकता। इस आधार पर इतनी असहिष्णुता बढ़ गई कि बेटा बाप को मारने की बात कह सकता है। यही संस्कार भारतीय जीवन मे आता जा रहा है। विचार संक्रामक होते जा रहे हैं। यदि सामाजिक स्वास्थ्य जरूरी है तो हमें इस बात पर विचार करना होगा कि अहंकार कम हो। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग अहंकार को कम करने का प्रयोग है। क्योंकि अध्यात्म में अहंकार करने का अवसर कम मिलता है। बाहरी वातावरण में अहंकार को मौका मिलता है, क्योंकि कोई छोटा है और कोई बड़ा है। पर जब अध्यात्म में आ गए तो फिर कोई छोटा-बड़ा है ही नही। इस स्थिति में अहंकार को पलने का मौका नही मिलता।

हमारे जीवन के ये दोनों पक्ष—वैयक्तिक जीवन का पक्ष और सामाजिक जीवन का पक्ष बांटा तो जाता है, पर काटा नहीं जाता। अंगुलियां पांच हैं। उन्हें बांटा तो जा सकता है, किन्तु काटा नहीं जा सकता। एक अंगुली को अलग कर दें तो क्या होगा; यह एक उदाहरण है। पांचों समाज हैं और पांचों अलग हैं। ठीक यही संबन्ध व्यक्ति और समाज के बीच में है। लाख व्यक्ति हो सकते हैं, किन्तु एक हाथ से जुड़े हुए हैं। इन्हें काटा नहीं जा सकता। चाहे समाज का स्वास्थ्य हो, चाहे व्यक्ति का स्वास्थ्य हो, सबका मूल कारण है भावात्मक स्वास्थ्य। यह प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया भावात्मक स्वास्थ्य की प्रक्रिया है। जिन्होंने अभ्यास किया है, उनकी दृष्टि बहुत साफ रहनी चाहिए। उन्होंने एक ऐसे अनुष्ठान का प्रयोग किया है जिससे भावनाएं परिष्कृत होती हैं। यह दृष्टि बनी रहेगी तो प्रेक्षाध्यान का जीवन में और अधिक विकास होगा। फिर परिवार को भी पता चलेगा, समाज को भी पता चलेगा। आपका भी कल्याण होगा, परिवार का भी कल्याण होगा और पूरे समाज का भी कल्याण होगा।

जीवन की पोथी

जीवन की पोथी

जीवन एक बहुत बड़ी पोथी है। उसके दस अध्याय हैं। एक-एक अध्याय के अरबों-अरबों पृष्ठ और एक-एक पृष्ठ मे अरबों-अरबों अक्षर। ये अक्षर इतनी सूक्ष्म-लिपि में लिखे गए हैं कि ये चरम-चक्षु से नहीं पढ़े जा सकते। हमारे मुनि ने सूक्ष्म-लिपि मे एक पत्र लिखा। उसमें लगभग असी हजार अक्षर हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म-लिपि मानी जाती है। किन्तु जीवन पोथी मे जो लिपि है, वह इतनी सूक्ष्म है कि एक पत्र में करोड़ों-करोड़ों नहीं, अरबों-अरबों अक्षर लिखे गए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि हमने स्वयं लिखा है। वे सारे पृष्ठ हमने भरे हैं। पर खेद है, हम अपना लिखा भी नही पढ़ पाते। यह सबसे बड़ा आश्चर्य है। हम प्रतिदिन लिखते चले जा रहे हैं, पर पढ़ नहीं पा रहे हैं। हमने लिखा ही नही है, आज भी लिख रहे हैं। प्रतिदिन लिखते हैं। प्रतिदिन ही नही, प्रति घंटा ही नहीं, प्रति मिनट, प्रति मिनट ही नही, प्रति सेकेण्ड लिखते जा रहे हैं। एक सैकेण्ड मे कितना कुछ लिख लेते हैं, यह भी आश्चर्य-कारक है।

हमारे भीतर दो प्रकार के लिपिक काम कर रहे हैं। एक तो लिखता ही चला जा रहा है, कभी थकता ही नहीं। उसकी गति कभी बन्द नहीं होती। दूसरा लिपिक कभी लिखता है, कभी विश्राम लेता है। जो निरंतर लिखता जा रहा है, वह एक सेकेण्ड मे हजारों-हजारों अक्षरों का विन्यास कर लेता है और जो विराम के साथ लिखता है, वह एक सेकेण्ड मे सैकड़ों अक्षरों का विन्यास कर लेता है।

इतना बड़ा महापोथा है हमारा जीवन। पर हम उसे पढते नही। पढ़ने के लिये स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटी में जाते हैं। पढ़ने के लिये विभिन्न प्रकार की पुस्तकें खरीदते हैं। और सभी विधाओं की पुस्तकें पढने का प्रयत्न करते है। इससे बड़ा क्या आश्चर्य होगा कि सबको पढ़ने वाला व्यक्ति अपने जीवन की पोथी कभी नहीं पढ़ता, कभी उस महापोथी के पन्ने नही उलटता। यह सही है कि इस महापोथी को पढ़ने का ढंग निराला है। दूसरी सारी पुस्तकें पढ़ी जाती हैं, जब आंखें खुली होती हैं, जब चंचलता

होती है। किन्तु जीवन की पोथी तब नही पढी जाती जब आंख खुली होती हैं, चंचलता होती है। जीवन की महापोथी तब पढ़ी जाती है जब आंख बन्द होती है। यह तब पढ़ी जाती है जब चंचलता नहीं होती। यह तब पढ़ी जाती है जब स्थिरता होती है। कायोत्सर्ग की मुद्रा में गए बिना, शिथिलीकरण किए बिना कोई भी व्यक्ति जीवन के इस महाग्रंथ को नही पढ़ सकता। मानसिक चंचलता को मिटाए बिना, अन्तर्दृष्टि को जगाए बिना, कोई भी इस महाकाव्य को नही पढ़ सकता। प्रवृत्ति का जितना विसर्जन होगा, स्थिरता जितनी सधेगी, उतनी ही पढ़ने की क्षमता बढ़ेगी।

जो व्यक्ति एकाग्रता, अन्तदर्शन और शिथिलीकरण—इन नियमों का पालन करता है, वह इस महाग्रन्थ को पढ़ने में समर्थ होता है। यह महाग्रन्थ अनन्त रहस्यों से भरा पड़ा है, पर उसको न पढ सकने के कारण सारे रहस्य छुपे रह जाते हैं। जिन लोगों ने इस महाग्रन्थ को पढ़ा, उन्होंने कहा - हमारे भीतर अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त आनन्द है और अनन्त शक्ति है। जो लोग इस महाग्रन्थ को नहीं पढते, वे इस तथ्य को भी स्वीकार नही कर पाते कि हमारे भीतर अनन्त आनन्द है। पर पढ़ने वाले के समक्ष ये सारी सचाइयां प्रगट हुए बिना नहीं रहतीं।

आज के मनुष्य के लिये आनन्द है पदार्थ-सापेक्ष। गर्मी का मौसम है। पंखे की हवा मिलती है तो आनन्द की अनुभूति होती है। भूख लगने पर सुस्वादु भोजन मिलता है, प्यास लगने पर ठंडा पानी मिलता है तो आदमी आनन्द का अनुभव करता है। किन्तु जो व्यक्ति इस महापोथी को पढ़ना जानता है वह इन पदार्थों के बिना भी आनन्द की अनुभूति कर लेता है। पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द भीतर में खोजा जा सकता है। यही है उस महाग्रन्थ को पढ़ना। भगवान् महावीर छह-छह महीनों तक भूखे-प्यासे रहे। पर उनका आनन्द सदा बढ़ता ही गया। इसका मुख्य कारण था कि पदार्थ-सापेक्ष आनन्द से वे निरपेक्ष थे और वे इस महाग्रन्थ को पढना सीख चुके थे। इसीलिये आनन्द का स्रोत इतना अजस्रप्रवाही बन गया कि उनका आनन्द अबाधित और अटूट बना रहा। उस आनन्द का स्रोत कभी सूखा नहीं।

हमारे भीतर अनेक रहस्य हैं, किन्तु हम उस महाग्रन्थ को पढ़ना नहीं जानते, इसलिये न तो आनन्द को खोज पाते हैं, न शक्ति को खोज पाते हैं और न ज्ञान-दर्शन को खोज पाते हैं। हम इतनी बड़ी सम्पदा के स्वामी होने पर भी दरिद्रता का अनुभव करते हैं। इसका मूल कारण है अज्ञान। जब तक

व्यक्ति रहस्य को नहीं जानता, वह पारस और पत्थर में भेद नही कर सकता। आदमी की अनभिज्ञता इतनी है कि उसकी कोई सीमा नही है। बाहर ही बाहर जीने वाला, स्थूलदृष्टि में जीने वाला आदमी सदा सूक्ष्म जगत् से अनजान रहा है। यही सारी समस्याओं और दुःखो का कारण है।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग उस सूक्ष्म जगत् से परिचित होने का उपाय है, उस सूक्ष्म लिपि को पढ़ने का उपाय है। हम कम से कम पढ़ना तो सीख जाएं, फिर पढ़ें या न पढ़ें, यह दूसरी बात है। इतना होने मात्र से भी जीवन का नया आयाम खुलता है, नई दिशा का उद्घाटन होता है। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का पहला चरण है। यह इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति उन रहस्यों को जानना चाहता है जो भीतर हैं, यथार्थ हैं।

इस महाग्रंथ के प्रथम अध्याय का प्रथम पृष्ठ है शरीर, दूसरा पृष्ठ है आनुवंशिकता और तीसरा पृष्ठ है पर्यावरण। पहला पृष्ठ बड़ा है, मूल है। दूसरा और तीसरा पृष्ठ उसकी अपेक्षा छोटे हैं, मूल नही हैं। ये पहले पृष्ठ के सहयोगी है।

जीवन के महाकाव्य में आनुवंशिकता का बहुत बड़ा लेखा-जोखा है। इसके द्वारा व्यक्ति को पहचाना जा सकता है, व्यक्ति स्वयं को जान सकता है।

एक राजा के पास चार आदमी थे। वे चारों कवि थे। उनकी मेधा इतनी स्फूर्त थी कि वे तत्काल कविता करते और उस कविता मे वह समाधान प्रस्तुत होता जो अनेक रहस्यों को उद्घाटित कर देता। राजा उनकी प्रतिभा पर मुग्ध था। एक दिन राजा के मन में एक विकल्प उठा कि कम से कम मैं स्वयं को जान लूं कि मैं क्या हूं? कौन हूं? उसने यह प्रश्न उन कवियों से पूछा। एक कवि बोला—महाराज! यह प्रश्न जाने दें। अपना परिचय पाने का प्रयत्न न करें। राजा ने कहा—तुमने मेरी जिज्ञासा को और उभार डाला है। अब तो मुझे उसका समाधान पाना ही होगा। कवियों ने आखें मूदी और चारों ने चार पंक्तियों मे राजा का परिचय दे डाला। चौथी पंक्ति थी—"राजा तू है दासी रो जायो।" राजा ने सुना। वह अवाक् रह गया। उसने पूछा—तुमने यह कैसे जाना कि मैं दासी-पुत्र हूं। कवि बोला—यह तो बहुत ही स्पष्ट है। मैंने आपकी इतनी सेवा की, बड़े-बड़े रहस्य उद्घाटित किए और आपने प्रसन्न होकर मुझे उपहार में "पेटिया"

दिया—आटा-घी और दाल दी। इस अनुदान से मैंने अनुमान लगाया कि राजा इतना तुच्छदान नहीं दे सकता। ऐसा तुच्छ दान दासी-पुत्र ही दे सकता है। राजा ने खोज की बात सही निकली। दासी-पुत्र का पालन पोषण कर राजगद्दी पर बिठाया गया था।

दूसरा पृष्ठ है वातावरण का। इसको हम एक कथा के माध्यम से समझें। राजा शिकार के लिये जा रहा था। जंगल में एक पल्ली आई। वहां एक द्वार पर पिंजरा लटक रहा था। उसमें एक तोता था। राजा को देखते ही वह बोल उठा—आओ, दौड़ो। आओ, दौड़ो, लूटो-लूटो। राजा ने सुना। आगे बढ़ गया। कुछ ही दूरी पर एक आश्रम आया। वहां भी एक पिंजरा लटक रहा था। उसमें एक तोता था। राजा को देखते ही वह बोल उठा—आइए, पधारिए, सुस्वागतं, सुस्वागतं। राजा ने सुना और वहीं रुक गया। उसका मन कुतूहल से भर गया। वह तोते के पास गया, पूछा—शुकराज! पहले एक तोता मिला था। वह लूटो-मारो की भाषा बोल रहा था और तुम सुस्वागतं की भाषा मे बोल रहे हो। क्या रहस्य है? शुकराज ने कहा—राजन्! हम दोनों सगे भाई हैं। वह चोरों के पास रहता है, उनकी बोली सुनता है, उनके आचरण और व्यवहार को देखता है, इसलिये वह लूटो, मारो की भाषा बोलता है। मैं ऋषियों के साथ रहता हूं, उनकी वाणी सुनता हूं, इसलिये मेरी भाषा वैसी बन गई है।

यह है वातावरण और पर्यावरण का चमत्कार। जब तक जीवन के ये ... पृष्ठ नहीं पढ़े जाते तब तक महाकाव्य की ठीक से व्याख्या नहीं की जा ...ती।

पहला पृष्ठ है शरीर। यह अत्यन्त जटिल और गहन है। इसको पढ़ ... मुश्किल है। यह तीन भागों में बंटा हुआ है—सूक्ष्मतर, सूक्ष्म और ...। मनोविज्ञान की भाषा में अचेतन, अवचेतन और चेतन। दूसरे शब्दों में ...तर, अज्ञात और विज्ञात। हमारे शरीर का एक भाग इतना सूक्ष्म है कि ... पाने की बात नहीं होती। पानी स्थूल है। हम देख सकते हैं, जान ...। जब पानी सूक्ष्म बन जाता है, भाप बन जाता है तब वह हमारी ...परे हो जाता है। सूक्ष्मतर शरीर भाप जैसा है वह वाष्पीय है। उसे ... जा सकता। उसमें इतने प्रकंपन होते हैं कि उन्हें जाना नहीं जा सकता। ...के अभ्यास के द्वारा हमारी चेतना सघन बनती है तब धीमे-धीमे ...दा होती है कि हम सब चेतन या अचेतन शरीर के प्रकंपनों को

पढ़ने में सक्षम होते है, लिपि को पढ़ सकते हैं और उसके साथ संपर्क स्थापित कर सकते हैं। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला स्थूल को पढ़ना शुरू करता है। सबसे स्थूल है हमारा आभामंडल जो स्थूल शरीर के साथ काम करता है। जिसने आभामंडल को पढ़ना सीख लिया, उसने बहुत सारे रहस्यों को जान लिया।

आज के डाक्टर रोग-निदान की नई पद्धति का विकास कर रहे हैं। वह है" आभामंडलीय निदान पद्धति।" मद्रास के कुछ डाक्टरों ने एक यंत्र बनाया है जिसके द्वारा अंगूठे के आभामंडल का फोटो लिया जाता है और उसके द्वारा रोगों का निदान किया जाता है। उनका दावा है कि अंगूठे के आभामंडल के फोटो के अध्ययन से तेरह रोगों का सही निदान किया जा सकता है। आभामंडल के द्वारा भविष्य में होने वाले रोगों—दो-चार-छह महीनों में होने वाले रोगों का भी पता लग सकता है और मृत्यु का समय भी ज्ञात हो सकता है। आभामंडल के द्वारा इन रहस्यों का पता लगाया जा सकता है और जीवन के महाग्रंथ के कुछ भाग को पढ़ा जा सकता है। आभामंडल के द्वारा व्यक्ति के आचरण और व्यवहार को, स्वभाव और प्रकृति को जाना जा सकता है। ध्यान की एकाग्रता से आभामंडल पढ़ा जा सकता है, फिर रूप-रंग को नहीं देखा जाता। देखा यह जाता है कि व्यक्ति की ऊर्जा का वलय कैसा है? विद्युत् का वलय कैसा है? उसके रंगों के आधार पर यह ज्ञात हो जाता है कि वह कितना पवित्र है, कितना शक्तिशाली है। बाह्य आकार-प्रकार से शक्ति का अनुमापन नहीं होता। शक्ति का अनुमापन होता है भीतरी ऊर्जा से, विद्युत् से। जिसकी भीतरी ऊर्जा कमजोर है, उसका आभामंडल कमजोर होगा।

एक डाक्टर और एक प्रेक्षाध्यान के अभ्यासी को स्थूल शरीर को जानना बहुत आवश्यक होता है। इस दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। यह स्थूल बात है। दोनों में अन्तर भी है। डाक्टर केवल नाड़ीतंत्र और ग्रन्थितंत्र का ही ज्ञान करता है। प्रेक्षाध्यानी को इनके साथ-साथ प्राणधारा का भी ज्ञान करना होता है। प्राणधारा को जाने बिना इस महाग्रंथ को नहीं पढ़ा जा सकता। हम सोचते हैं, बोलते हैं, चलते-फिरते हैं, यह सारा प्राणशक्ति का कार्य है। आत्मा न सोचती है, न बोलती है और न चलती-फिरती है। कंप्यूटर या रोबट—ये सारे कार्य करता है। उसमें विद्युत्-शक्ति काम करती है। उसी प्रकार मनुष्य की प्राणशक्ति विद्युत्-शक्ति है। उसी के द्वारा सारा कार्य होता है।

"जीवन पोथी के सौ पृष्ठ"—यह मेरा विवेच्य विषय है। सौ पृष्ठों की चर्चा कब कैसे हो पाएगी, यह नहीं कहा जा सकता। आज विषय-प्रवेश हुआ है। हम सबका यह उद्देश्य हो कि हम इस महापोथी को पढ़ने का अभ्यास करें। इस अभ्यास से जीवन जीने की कला आएगी। जीवन को कैसे जीया जाए, किस प्रकार आनन्द, शक्ति और ज्ञान के साथ जीया जा सकता है—यह मंत्र हाथ लगेगा, सूत्र हाथ लगेगा। मैं मंगल भावना करता हूं कि यह मंत्र और सूत्र प्रत्येक अभ्यासी को हस्तगत हो और प्रत्येक व्यक्ति आनन्द और शक्ति का जीवन जी सके।

बचपन

एक शिकायत लेकर अन्धकार इन्द्र के पास पहुंचा। उसने कहा—'सूर्य सदा मेरा पीछा करता रहता है। मैं जहां जाता हूं, पीछे-पीछे आता है और मुझे कष्ट पहुंचाता है। आप न्याय करें और सूर्य को ऐसा करने से रोकें।' इन्द्र ने सूर्य को बुलाकर पूछा। सूर्य बोला—'कैसा अन्धकार! मैंने उसे कभी देखा ही नहीं। मैं उसे पहचानता भी नहीं। फिर सताने की बात ही क्या?'

दोनों बातों में सचाई है। अंधकार की शिकायत में भी सचाई है और सूर्य के कथन में भी सचाई है। सूर्य अंधकार का नाश करता है, यह भी सच है और उसने कभी अंधकार को देखा भी नहीं, यह भी सच है। दोनों सचाइयों को सापेक्ष दृष्टि से देखना होगा। निरपेक्ष दृष्टि से सचाई का पता नहीं चल सकता।

जीवन के विषय में भी हमारा दृष्टिकोण सापेक्ष होना चाहिए। जीवन में अंधकार भी है और प्रकाश भी है। सूर्य भी उग रहा है और अंधकार भी है। दोनों सापेक्ष हैं।

जीवन का पहला अध्याय है—बचपन। अनेक लोग कहते हैं कि बचपन निश्छल, सरल और स्पष्ट होता है। उसमें कोई बुराई नहीं होती। यह भी एकांगी कथन है। बच्चा स्पष्ट और पवित्र है और वह सामाजिक संदर्भ में सब कुछ सीखता है, यह भी एकांगी बात है, पूर्ण सही नहीं है।

बच्चा बहुत कुछ लेकर आता है। उसमें अच्छाइयां भी हैं और बुराइयां भी हैं। वह आनुवंशिकता के सूत्र से बंधा हुआ होता है। क्रोमोसोम और जीन—गुणसूत्र और संस्कार-सूत्र वह लेकर आता है। उसमें अनेक संस्कार हैं। इससे भी आगे चलें तो उसमें कर्म के संस्कार विद्यमान हैं। उसके पास इन कर्म-संस्कारों का असीम खजाना है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि एक बच्चा बिल्कुल रिक्त है, स्पष्ट है, कोरी पाटी के समान है। यह सापेक्ष सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं है। निमित्त काम करते हैं, सामाजिक वातावरण काम करता है। सामाजिक वातावरण के सन्दर्भ में बच्चा एक आकार लेता

है। यह भी एकांगी कथन है। कोरा सामाजिक वातावरण उसे प्रभावित
कर पाता। उसमें जो है, जो संस्कार-बीज वह साथ में लेकर आया है, व
भी उसके व्यक्तित्व का घटक बनता है, उसे प्रभावित करता है। वे संस्कार
बीज प्रगट होते हैं। सामाजिक संदर्भ उसमें निमित्त बनता है। स्कूल में सैकड़ों
बच्चे पढ़ते हैं। क्या उनमें एकता और समता है? उनमें आचरण की तर-
तमता है, व्यवहार और ज्ञान की तरतमता है। यह तरतमता क्यों है? यदि
सामाजिक वातावरण ही कारण होता तो सबके सब बच्चे समान होते। एक
बच्चा दस वर्ष की अवस्था में महान् कवि बन जाता है। एक बच्चा उसी
अवस्था में महान् दार्शनिक या संत बन जाता है। वातावरण और सामाजिक
संदर्भ समान होने पर भी इतना अन्तर आ जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि
सामाजिक संदर्भ या वातावरण ही सब कुछ नहीं है। बच्चा पूर्व संस्कार-बीज
ले आता है। उसमें क्षमताएं हैं। वे क्षमताएं सामाजिक संदर्भ में प्रगट होती
हैं और कभी-कभी ये विशेषताएं अतिरिक्त रूप में प्रगट हो जाती हैं। सबमें
ऐसा नहीं होता। अतिरिक्त में ऐसा हो सकता है।

राजप्रश्नीय आगम में एक प्रसंग है। राजा प्रदेशी ने कहा—क्या
बलवान्, शक्तिशाली और कला-कुशल तरुण बाण फेंक सकता है? केशी
स्वामी ने कहा—हां, वह बाण फेंक सकता है। प्रदेशी ने फिर पूछा—तो क्या
एक बच्चा बाण फेंक सकता है? केशी ने कहा—बच्चा बाण नहीं फेंक
सकता। प्रदेशी ने कहा—तो फिर आत्मा समान कहां है? यदि आत्मा
समान होती तो जैसे एक युवक धनुष्य से बाण फेंकता है, वैसे ही एक बच्चा
भी बाण क्यों नहीं फेंक सकता? केशी बोले—प्रदेशी! युवा बाण फेंक
सकता है, पर यदि धनुष्य की जिह्वा टूटी हुई हो, तो क्या बाण फेंका जा
सकेगा? प्रदेशी बोला—नहीं। केशी ने पूछा—क्यों? प्रदेशी बोला—उप-
रण पर्याप्त नहीं है। धनुष्य टूटा हुआ है, उपकरण अपर्याप्त है। जब तक
रे उपकरण ठीक नहीं होते, तब तक कार्य संपन्न नहीं हो सकता।' केशी
हा—राजन्! तुम ठीक कहते हो। एक बच्चा बाण नहीं फेंक सकता,
कि उसके उपकरण पर्याप्त नहीं हैं।

उपकरण हमारी एक शक्ति है। वह कार्य करने में निमित्त बनती है।
देती है। आंखें नहीं देखती। वे देखने में निमित्त बनती हैं। देखने की
क्ति आंख नहीं है। वह तो एक माध्यम है। उसमें केवल प्रतिबिम्ब
देखने की शक्ति उस नर्व में है, जिसे हम उपकरण कहते हैं। कान

का आकार नहीं सुनता। उसमें जो उपकरण है, उसमें सुनने की शक्ति है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उपकरण होता है। जब तक बच्चा पांच-दस वर्ष का होता है तब तक यह पता नहीं चलता कि यह भविष्य में महान् कवि होगा, दार्शनिक होगा, संत होगा, क्योंकि उसके उपकरण अभी अपर्याप्त हैं। जो शक्तियां व्यक्ति को महान् कवि, दार्शनिक या संत बनाती हैं, वे बच्चे में अभी अभिव्यक्त नहीं हैं। उपकरण अभी पूर्ण विकसित नहीं है। बच्चे में भी सारी शक्तियां विद्यमान हैं, पर जब तक उसके शारीरिक अवयव, मस्तिष्क के अवयव पूर्ण विकसित नहीं होते, तब तक वह बच्चा पूरा काम नहीं कर सकता। जब उन घटकों का पूर्ण विकास हो जाता है, तब वह बच्चा कार्य को पूरा करने में सक्षम हो जाता है।

इसलिए हम यह एकान्ततः नहीं मान सकते कि बच्चा कोरी पाटी जैसा है, पूर्ण स्पष्ट और पवित्र है, उसमें अच्छाइयां या बुराइयां नहीं हैं।

अच्छा वातावरण उपलब्ध करा देने पर भी कुछ बच्चे ऐसे हैं, जो कभी अच्छे नहीं बनते और कितना ही खराब वातावरण दे देने पर भी कुछ बच्चे बुरे नहीं बनते। इसका मूल कारण है उनकी अपनी विशेषता, अपने संस्कार-बीज। उपादान और निमित्त—दोनों साथ-साथ काम करते हैं। स्वयं की विशेषता है उपादान और सामाजिक वातावरण है निमित्त। दोनों का योग होने पर कार्य निष्पन्न होता है।

एक आदमी सौ वर्ष की आयु जीता है। उसके जीवन को दस भागों में बांटा गया। दस-दस वर्ष का एक-एक भाग होगा। वे दस अवस्थाएं हैं—

१. बाला	६. हायनी
२. क्रीड़ा	७. प्रपंचा
३. मन्दा	८. प्राग्भारा
४. बला	९. मृगमुखी
५. प्रज्ञा	१०. शायनी

पहली पांच अवस्थाएं जीवन के पूर्वार्द्ध की हैं और शेष अवस्थाएं जीवन के उत्तरार्द्ध की हैं। दस अवस्थाओं में बन्धा हुआ सौ वर्षों का जीवन।

पहली अवस्था है बाला। यह बचपन की अवस्था है। इसका काल-मान दस वर्ष का है। इस अवस्था में जो स्थितियां बनती हैं, प्राचीन आचार्यों ने उनका सुन्दर विश्लेषण किया है। वे कहते हैं—'न तत्थ सुखदुक्खाणं बहुं

जाणंति बाला'—बालक में सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है किन्तु बालक न अधिक सुख का संवेदन करता है, और न अधिक दुःख का संवेदन करता है। यह सुख-दुःख के संवेदन से परे की अवस्था होती है। दो-चार वर्ष का बच्चा एक मिनिट में रोने लग जाता है और दूसरे ही क्षण हंसने लग जाता है। चोट लगी, रोने लग जाता है। मिठाई दी, तत्काल हंसने लग जाता है। बड़ा आदमी ऐसा नहीं कर सकता। बच्चे में सुख-दुःख का ज्ञान कम होता है। वह बहुत कम वेदन करता है। यह अवस्था निर्माण की अवस्था है, विकास की अवस्था है। सारे बीज इस अवस्था में अंकुरित होने लग जाते हैं।

प्रेक्षाध्यान करने वाले व्यक्ति को प्रेक्षा—निरीक्षण करना सीखना है। उसे अतीत में जाना है, अतीत का अवलोकन करना है। ध्यान का अभ्यास करने वाले प्रतिक्रमण करें, पीछे लौटें। कल सूर्योदय से सूर्यास्त तक पहुंचें। इस अन्तराल में क्या-क्या किया था, उसका चिन्तन करें। कितने अच्छे विचार आए, कितने बुरे विचार आए, एक-एक घटना, स्थिति और संदर्भ को देखते चले जाएं। चलते चलें। यदि आज आपकी आयु चालीस वर्ष की है तो एक-एक वर्ष की स्मृति करते-करते वहां तक पहुंच जाएं जहां तक स्मृतियां ले जाती हैं। आगे चलें और बचपन की अवस्था तक पहुंच जाएं। वहां देखें, आपने कौनसे संस्कार लिए थे? क्या-क्या पाया था? वहां एक ऐसा अध्याय खुलेगा, जिसको आपने आज तक नहीं पढ़ा था। उसके आलोक में आप अपने-आपको समझ सकेंगे। आप जान सकेंगे कि वर्तमान में जो आदत है उसका ल क्या है? कहां है? आपमें अच्छी आदतें भी हैं और बुरी आदतें भी हैं। सबकी बुआई इसी अवस्था में हुई है, यह आप जान लेंगे। वहां प्रत्येक दत का मूल स्रोत खोजा जा सकेगा। यह आदत क्यों बनी? कब बनी? परिस्थितियों में बनी? यह पता लग जाएगा। मूल संस्कारों का पता ाया जा सकता है कि आठ वर्ष की अवस्था में किस कर्म का विपाक आ था और उससे मेरा कौनसा स्वभाव बना?

अपने व्यक्तित्व का विश्लेपण करना, यह बहुत बड़ा काम है। जो तक पहुंच जाता है, उसके सामने गांठ को खोलने का सूत्र प्रस्तुत है। जब तक यह सूत्र हस्तगत नहीं हो जाता तब तक आदमी नहीं कि अमुक बुराई की बुवाई कब कैसे हुई थी? वहां पहुंचे बिना उखाड़ा नहीं जा सकता।

एक भिखारी था। भीख मांगते-मांगते उसकी आदत इतनी मजबूत हो गई कि उसे छोड़ पाना संभव नहीं था। उसने लाटरी में रुपये लगाए। मंदिर में जाकर प्रार्थना करने लगा—'भगवन्! इस बार मेरी लाटरी उठे और मुझे लाख रुपया मिल जाए।' पास में एक दूसरा व्यक्ति खड़ा था। उसने पूछा, तुम तो भिखारी हो। क्या करोगे लाख रुपयों से? वह बोला, एक कार खरीदूंगा। आज तक पैदल घूमकर भीख मांगता था। कार आ जाने पर कार में बैठकर भीख मांगने निकलूंगा।'

भीख मांगने की आदत बहुत गहरी थी। कार आ जाने पर भी उससे छुटकारा पाना उसके लिए कठिन था।

संस्कार छूटते हैं प्रति-क्रमण करने से। प्रति-क्रमण करते-करते बचपन में पहुंचना पड़ेगा, तब संस्कार से छुटकारा संभव हो सकेगा। जब प्राणी गर्भ में आता है, तब बहुत कुछ लेकर आता है। वहां तक पहुंचने का प्रयत्न होना चाहिए। पर वहां रुकना नहीं है। यदि सामर्थ्य और बढ जाए तो और आगे बढ़ना है, पूर्वजन्म का ज्ञान करना है, जातिस्मृति को प्राप्त करना है।

यह है प्रति-क्रमण की प्रक्रिया, अतीत में लौटने की प्रक्रिया। अतीत में चलते चलो, अतीत को देखते जाओ, कब क्या घटित हुआ था? किस क्षण में क्या घटित हुआ था? देखते जाओ। चलचित्र के समान सारा अतीत स्पष्ट हो जाएगा। उस समय आप अतीत को ऐसे पढ़ने लगेंगे जैसे कोई खुली पुस्तक का पन्ना पढ़ रहे हैं।

कर्मवाद और अध्यात्मयोग की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण पढ़ने का जो है वह है जीवन का पहला अध्याय—बचपन। उसे पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान करने वाले को उस दस वर्ष तक की अवस्था में, बचपन की अवस्था में, जाना जरूरी है। इस अवस्था में सहज समता की स्थिति रहती है। मुनि को कहा जाता है कि वह एक छोटे बच्चे की भांति रहे। बच्चे में आग्रह नहीं होता, पकड़ नहीं होती। प्रतिकूल बात होगी तो बच्चा नाराज होकर रो पड़ेगा। किन्तु मन में ग्रन्थि नहीं रहेगी। तत्काल भूल जाएगा। बच्चा वर्तमानजीवी होता है। ऐसा जीवन होना चाहिए। बड़े आदमी का कोई अपमान कर देता है, तो वह गांठ बांध लेता है, वर्षों तक उसे नहीं भूलता। कितना अन्तर है, एक ९-१० वर्ष के बच्चे में और ५०-६० वर्ष के व्यक्ति में। इसीलिए जहां सरलता, निश्छलता, पवित्रता का निदर्शन करना होता है, बच्चे की बात कही जाती है। जहां दोषों के प्रायश्चित्त की बात आती है,

यहां दोषी व्यक्ति को प्रेरित किया जाता है कि वह छोटे-भोले बालक की त
अपना दोष स्पष्ट रख दे, छुपाए नहीं।

अध्यात्म योगी के पास कोई आलोचना करने, दोष-विशुद्धि करने जाएगा तो वह कहेगा—तुम दुःख का भार ढो रहे हो, कष्ट पा रहे हो। यह सारी उस बुरे आचरण की प्रतिक्रिया है, जिस आचरण को तुमने स्वयं किया है। इसलिए तुम शारीरिक और मानसिक क्लेश पा रहे हो। अब तुम अपने मन को खोलकर रख दो और जो कुछ किया है उसकी पवित्र मन से आलोचना करो भोले बालक की तरह। तुम्हारी मानसिक ग्रन्थि भी खुल जाएगी और बीमारी भी मिट जाएगी।

एक बीमार ने डाक्टरों के पास सारे टेस्ट और चेक-अप करवा लिए। बीमारी का कोई पता नहीं चला। डाक्टरों ने कहा—तुम्हारे कोई बीमारी नहीं है। उसने कहा, मैं अपार दुःख भोग रहा हूं और आप कहते हैं कि कोई बीमारी नहीं है, कैसे मानूं! कारण क्या है? डाक्टरों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। डाक्टरों के आधुनिकतम उपकरण जिस बीमारी को पकड़ने में समर्थ हैं, वह बीमारी इस व्यक्ति के नहीं है। यह व्यक्ति जिस बीमारी से ग्रस्त है, वह बीमारी इन उपकरणों से नहीं पकड़ी जा सकती। यह वृत्तियों की बीमारी है। यह भावनात्मक बीमारी है। इस बीमारी से छुटकारा तब तक नहीं मिल सकता जब तक गांठ नहीं खुल जाती। यह गांठ तब तक नहीं खुलती जब तक व्यक्ति बचपन की अवस्था में नहीं चला जाता, उस सुदूर अतीत की यात्रा पर नहीं निकल पड़ता। जब तक वह सरल बन कर अपने मन की बात को नहीं खोल देता, तब तक उस बीमारी से छुटकारा पाना मुश्किल है।

जैन आचार्यों ने विशुद्धि का एक सूत्र दिया—'अईयं पडिक्कमामि'—मैं अतीत का प्रतिक्रमण करता हूं। अतीत में जो त्रुटि हुई, उसकी आलोचना करता हूं, उससे मुक्त होना चाहता हूं। यह अध्यात्म का सूत्र है, साथ ही ाप चिकित्सा का भी सूत्र है। जब तक यह आलोचना नहीं की जाती, तब क बीमारी मिटती नहीं। एक मनोवैज्ञानिक भी इसी पद्धति का सहारा र ग्रन्थि-मोक्ष करता है और मूल तक पहुंचता है।

ईसा ने कहा, जो भोले बालक की तरह होगा, उसके लिए स्वर्ग का खुल जाएगा। स्वर्ग के राज्य में सरल व्यक्ति ही प्रवेश पा सकता है, कभी प्रवेश नहीं पा सकता।

एक विचित्र बात है, बालक को कपटी और मायावी नही माना जाता। दस वर्ष की अवस्था को पार करने के बाद चाहे कोई कपट करे या न करे, माया करे या न करे, वह अवस्था कपटी और मायायुक्त मानी जाएगी। बड़ा आदमी कपट नहीं भी करता फिर भी उसे कपटी मान लिया जाता है और बच्चा यदि कपट कर भी लेता है तो उसे कपटी नहीं माना जाता। बचपन की अवस्था को सर्वथा मायामुक्त और कपट-मुक्त माना गया है। यह वह अवस्था है जिसमें सुख-दुःख की अनुभूति कम होती है, तीव्रता कम होती है, स्मृतियां कम होती हैं। बच्चा न अपमान को याद रखता है और न प्रशंसा को याद रखता है। एक क्षण में वह अपने साथी से लड़ पड़ेगा और दूसरे क्षण में उस साथी के साथ खाने बैठ जाएगा। यह है उसकी सरलता या अग्रन्थि का बरताव।

बड़ा आदमी बात छुपाता है और समझदार भी कहलाता है। बच्चा छुपाना नही जानता और नादान भी कहलाता है। उस समझदारी से यह नादानी अच्छी है। इसी से ग्रन्थिमोक्ष होता है, अतीत मे यात्रा होती है।

कमरे में दादा-पोता बैठे थे। फोन की घंटी बजी। बच्चे ने रिसीवर उठाया। बच्चे ने दादा से कहा—व्यक्ति आपसे बात करना चाहता है।' दादा बोला—कह दो, दादा बाजार गए है।' बच्चे ने तत्काल कहा—'हलो ! दादाजी कह रहे है कि कह दो, दादा बाजार गए हैं।' यह है बच्चे की सरलता !

कवि सम्मेलन का आयोजन। एक कवि कविता-पाठ करने लगा। परिषद् से चप्पल और पत्थर आने लगे। उस कवि का मुह लहुलुहान हो गया। वह मुंह पर रुमाल लपेटे घर गया। पत्नी बोली—मुंह पर रुमाल क्यों ? अरे ! लहू भी आ रहा है ! क्या हुआ ?' वह बोला—कोई खास बात नही है। आगे के दो दात हिल रहे थे। उन्हें उखड़वाना था। आज ऐसा संयोग मिला कि वे स्वयं उखड़ गए, इसलिए मुह से रक्त आ रहा है।' यह है बड़े की समझदारी या असरलता।

बड़ा आदमी बात छुपाता है। उसे सचाई तक जाने का अवसर ही नहीं मिलता। आदमी अधिक समझदार है इसीलिए ये कानून की पेचीदगियां और व्यवस्था की जटिलताएं हैं। आदमी ज्यों-ज्यो समझदार होता जा रहा है, जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं। समझदारी के साथ जटिलता का गहरा गठबन्धन है। आदमी समझदारी से जटिलता का तानाबाना बुनता है, जाल बुनता है और स्वयं उसमें ऐसा फंसता है कि उससे मुक्त होना कठिन हो

जाता है।

पहली अवस्था—बचपन की अनुभूति अव्यक्त अवस्था की अनुभूति है। इस अवस्था में पहुंचना बहुत आवश्यक है। जब तक सारा व्यक्त ही रहेगा तब तक ध्यान संभव नहीं है। ध्यान करने वाला भी साधक है, सिद्ध नहीं है। उसमें अहंकार, लोभ, कपट, घृणा, ईर्ष्या, कामवासना है। इनका एक साथ उन्मूलन नहीं हो सकता। ध्यान का प्रयोजन है इनको अव्यक्त अवस्था में ले जाना। जो व्यक्त हैं उन्हें अव्यक्त अवस्था में पहुंचाना। जब ये दोष अव्यक्त अवस्था में जाएंगे तब धीरे-धीरे इनका उपशमन होता जाएगा। ये सारे दोष निर्वीर्य और निष्क्रिय होते जाएंगे। जब इन दोषों को व्यक्त होने का मौका मिलेगा तब वे बार-बार प्रगट होते जाएंगे। इसलिए आवश्यक है, कि इन दोषों को व्यक्त होने का अवसर न दिया जाए, उन्हें अव्यक्त बनाए रखें। इन आवेगों का विफलीकरण करना आवश्यक है। जब हम जीभ को उलट कर तालु की ओर ले जाते हैं तो फिर बोला नहीं जाता। यह क्रोध या कलह के विफलीकरण का एक उपाय है। यह वैसी ही प्रक्रिया है कि अग्नि वहां फेंकी जहां कोई घास-फूस नहीं है। वह अग्नि जलेगी नहीं, शीघ्र ही बुझ जाएगी। अग्नि का सफलीकरण नहीं होगा।

प्रत्येक व्यक्ति में तरंगें उठती हैं। मन की चंचलता के कारण व्यक्ति में कभी क्रोध की, कभी वासना की, कभी भय की और कभी माया की तरंग उठती है, आदमी इनसे प्रभावित होता है। जो ध्यान करना जानता है वह इन तरंगों को शांत कर देता है। ध्यान इन तरंगों के उपशमन की प्रक्रिया है, विफलीकरण की प्रक्रिया है। शत्रु को सफल न होने देना, यह रणनीति है। जिसकी रणनीति में शत्रु सफल होता जाता है, उसकी रणनीति विफल मानी जाएगी। इसी प्रकार भीतर में जो दोष हैं, उनके प्रति रणनीति यह है कि जितना उनको व्यक्त होने का अवसर मिलेगा, उतने ही वे सफल होंगे और जितना उन्हें अव्यक्त रखा जाएगा, वे दोष निष्फल होते चले जाएंगे।

भय एक आवेग है। भय तब सफल होता है जब व्यक्ति डर कर भाग जाता है। जब आदमी डर कर भागता है तो भय उसका पीछा करता है। यदि उसका सामना किया जाए तो वह विफल हो जाएगा। किन्तु आदमी प्रत्येक परिस्थिति को इतना महत्त्व दे देता है कि छोटी परिस्थिति को भी बड़ी बना देता है। कोई भी परिस्थिति बड़ी नहीं होती, पर आदमी बड़े

जाती है। देखना महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

अतीत को देखा जाता है, अनागत को देखा जाता है और वर्तमान को देखा जाता है। आज हम अतीत दर्शन की बात कर रहे हैं और उसमें भी प्रथम अवस्था—बचपन को देखने पर विचार कर रहे हैं। जो व्यक्ति वहा तक पहुंच जाता है, उसके सामने अनेक रहस्य अनावृत होते हैं और तब उसका व्यक्तित्व निराला होता है। उसी स्थिति में व्यक्ति अपने आपको सही अर्थ में समझ सकता है कि मैं क्या हूं ? मैं क्या था ? जो मैं आज हूं वह किसका परिणाम है ?

हमारा वर्तमान का जीवन अतीत का परिणाम है। उसे अतीत ने गढ़ा था। आज उसे हम देख रहे हैं। जिस बचपन का मैं आज परिणाम हूं, उस अवस्था को देख लेना महत्त्वपूर्ण है। परिणाम को नहीं मिटाया जा सकता। मिटाया जा सकता है प्रवृत्ति को।

सामान्य आदमी परिणाम को मिटाने का प्रयत्न करता है, तभी उसे सफलता नही मिलती। ध्यान न करने वाला परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता, वह प्रवृत्ति को मिटाने का प्रयत्न करता है।

जब तक आदमी मूल तक नहीं पहुंचता, तब तक सही निदान भी नही हो सकता। हमारे व्यक्तित्व का मूल है बचपन, जहां बीजों की बुवाई होती है। वहां पहुंच कर ही हम अवांछनीय वृत्तियों का उन्मूलन कर सकते हैं। बचपन हमारे जीवन की नींव है। उस नींव तक पहुंचना आवश्यक है। केवल वर्तमान को पकड़ना ही पर्याप्त नहीं है। अतीत का अवलोकन करना है। अतीत में चलते-चलते बचपन में जाना है। जिस दिन हम बचपन की दहलीज पर पैर रखेंगे, उस दिन यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि मैं कौन हूं ? मैंने क्या किया था, जिसका आज मैं परिणाम हूं ? इन सारे प्रश्नों का उत्तर मिलेगा और नया आलोक जीवन में अवतरित होगा।

नए मस्तिष्क का निर्माण

आज प्रत्येक व्यक्ति यह चाह रहा है कि नए विश्व का निर्माण हो
पुराना विश्व उसे अच्छा नहीं लग रहा है। जिस समाज में वह जी रहा
वह समाज उसे सुखद नहीं लग रहा है। उसके मन में समाज के नए निर्माण
की कल्पना बार-बार उभर रही है। किन्तु नए विश्व और नए समाज का
निर्माण तभी संभव है जब नए मस्तिष्क का निर्माण हो। अभी जो मस्तिष्क
काम कर रहा है, उसके रहते हुए नए विश्व और नए समाज के निर्माण
की कल्पना नहीं की जा सकती।

मनोविज्ञान की भाषा में हमारा मस्तिष्क कन्डिशन्ड माइन्ड है,
प्रतिबद्ध मस्तिष्क है। वह कुछ बनी-बनाई मान्यताओं और धारणाओं के
आधार पर चल रहा है। जब तक मान्यताओं और धारणाओं की प्रतिबद्धता
को नहीं तोड़ दिया जाता तब तक नए समाज के निर्माण की कल्पना नहीं की
जा सकती।

जब जीवन की दूसरी अवस्था आती है तब मस्तिष्क का पूर्ण विकास
हो जाता है। दूसरी अवस्था का कालमान ११-२० वर्ष तक की अवस्था है।
पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक मस्तिष्क का पूर्ण विकास हो जाता है। पन्द्रह वर्ष
की अवस्था के पश्चात् व्यक्तित्व का विकास तो हो सकता है, पर मस्तिष्क
का विकास नहीं हो सकता। मस्तिष्क-विज्ञानी इस सचाई को स्वीकार करते
हैं कि मस्तिष्क को बदलने की अवस्था है पन्द्रह वर्ष की। उसके बाद उसको
बदलना कठिन हो जाता है। इसलिए जीवन की दूसरी अवस्था, जो ११-
२० वर्ष की होती है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस अवस्था में कामवृत्ति
जागृत होती है, कुछ नियंत्रण रहता है। पिनियल ग्रंथि सक्रिय होने के कारण
यौन हारमोन्स तथा अन्यान्य हारमोन्स पर कन्ट्रोल बना रहता है। जैसे ही
पिनियल ग्रन्थि निष्क्रिय होने लगती है, वह कामवृत्ति उभरती है।

मस्तिष्क को बदलने की अवस्था है पन्द्रह वर्ष तक की। बाद में वह
असंभव होता है। आज अनेक क्रान्तियों की आवश्यकता है। उनमें सबसे
आवश्यकता है मनोवैज्ञानिक क्रान्ति की। मनोवैज्ञानिक क्रान्ति का अर्थ होगा

श्रम कर अधिक वेतन लेना चाहता है। यह संघर्ष है। क्या इन दोनों की मनोवृत्ति को बदला जा सकता है? यदि यह परिवर्तन हो जाता तो न मार्क्सवाद आता और न साम्यवाद जन्म लेता और न हिंसक क्रान्तियां समय-समय पर उभरतीं। किन्तु मिल मालिक और मजदूर—दोनों में यह संघर्ष चल ही रहा है। प्रश्न होता है—क्या इसका समाधान संभव है?

भगवान् महावीर ने इसके समाधान का एक सूत्र दिया था कि किसी की आजीविका का विच्छेद मत करो। यह पापपूर्ण प्रवृत्ति है। किसी की वृत्ति का उच्छेद न करना, यानी जिसका जो हिस्सा है उसको उतना प्राप्त करा देना। जिसको जितना पाने का अधिकार है, न्याय है, उसे कम करना आजीविका का विच्छेद करना है। यह अहिंसा धर्म का अतिक्रमण है। अहिंसक ऐसा कभी नहीं कर सकता। इस सूत्र का विकास तभी संभव है जब मस्तिष्क का परिवर्तन हो, नए मस्तिष्क का निर्माण हो। जिसका मस्तिष्क बदल गया उसका संबन्ध यथार्थ के आधार पर होगा।

सम्बन्ध की दो भूमिकाएं हैं—स्वार्थपरक संबन्ध और यथार्थपरक संबन्ध। वर्तमान के समाज में स्वार्थपरक संबन्ध चल रहा है। यथार्थ है ही नहीं या न्यून है। यथार्थपरक संबन्ध का आधार है सचाई। जब मिल मालिक को उस सचाई का अवबोध हो जाता है तो वह कहेगा, इतना मेरा नहीं है, मैं नहीं लूंगा। मजदूर कहेगा, इतना मेरा नहीं है, मैं नहीं लूंगा। दोनों का संबन्ध यथार्थपरक होगा। यह तभी संभव है जब मस्तिष्क बदले।

प्रत्येक व्यक्ति ने अच्छी आकांक्षाएं संजो रखी हैं। वह चाहता है समाज अच्छा बने, व्यक्ति अच्छा बने। माता-पिता चाहते हैं, लड़का अच्छा बने। लड़का चाहता है, माता-पिता अच्छे हों। अच्छे की आकांक्षा सबकी है। इसकी पूर्ति नए मस्तिष्क से ही हो सकती है। पर मस्तिष्क को बदलने की तैयारी किसी की नहीं है।

एक मित्र ने दूसरे मित्र से पूछा, अरे! तुम सीमेन्ट का कारखाना लगाना चाहते थे, क्या हुआ उसका? वह बोला—कारखाना खड़ा करने के लिए सीमेन्ट ही नहीं मिली तो कारखाना कैसे लगता?

मस्तिष्क के परिष्कार के लिए ध्यान आवश्यक है। जब हम स्वयं को जानना-देखना प्रारंभ करते हैं तब जमी हुई धारणाएं बदलनी प्रारंभ हो जाती हैं। जिनके आधार पर जीवन चलता है, उन मान्यताओं में परिवर्तन

आने लगता है। जब धारणाओं में परिवर्तन होगा तो मानवीय संबन्धों में भी परिवर्तन आएगा। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है धारणा को बदलने का, तोड़ने का। भीतर धारणाओं का अंबार सा लगा हुआ है। इनको एक-एक कर बाहर निकालना होगा। धारणाएं तब टूटती हैं जब प्रतिबद्धताएं एक-एक कर बिखर जाती हैं। जितनी गहराई से हम भीतर देखेंगे, धारणाएं उतनी ही कमजोर होती जाएंगी। जितना धारणाओं का भार आदमी ढोता है, उतना एक गधा भी नहीं ढोता। धारणाएं बड़ी विचित्र होती हैं।

आचार्य श्री ने एक गांव से प्रस्थान किया। सामने से एक विधवा बहिन आ रही थी। साथवाली एक बहिन चिल्ला उठी, हटो, हटो, अपशकुन मत करो। वह विधवा बेचारी सकपका गई। एक ओर हट गई। आचार्य श्री ने पूछा—क्या हो गया? वह बहिन बोली—आप विहार कर रहे हैं। सामने वाली महिला विधवा है। यह अपशकुन माना जाता है। विहार में अपशकुन अच्छा नहीं है। 'आचार्य श्री ने सुना। फिर कहा—यह गलत मान्यता है। हम तो उसी बहिन का शकुन लेकर विहार करेंगे। एक विधवा बहिन, जो अपने धर्म पर चलती है, सदाचार और कुलाचार का पालन करती है, वह तो और अधिक पवित्र होती है। उसका अपशकुन कैसे माना जाए?

दिमाग में न जाने ऐसी कितनी धारणाएं भरी पड़ी हैं। इन धारणाओं से संकीर्ण इस मस्तिष्क में यथार्थ का पता नहीं चलता। जब व्यक्ति भीतर में उतर कर इनको देखता है तब सचाई प्रगट होने लगती है, मस्तिष्क भारशून्य होता है।

जीवन परिवर्तन की प्रक्रिया है ध्यान। इससे धारणाएं बदलती हैं। जब धारणाएं बदलेंगी तो मस्तिष्क बदलेगा। मस्तिष्क बदलेगा तो व्यक्तित्व बदलेगा। व्यक्तित्व के बदलने पर समाज बदलेगा।

एक शब्द में कहा जा सकता है कि परिवर्तन के लिए मस्तिष्क के नव निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति को इसका अनुभव करना चाहिए।

श्रम कर अधिक वेतन लेना चाहता है। यह संघर्ष है। क्या इन दोनों की मनोवृत्ति को बदला जा सकता है? यदि यह परिवर्तन हो जाता तो न मार्क्सवाद आता और न साम्यवाद जन्म लेता और न हिंसक क्रान्तियां समय-समय पर उभरती। किन्तु मिल मालिक और मजदूर—दोनों में वह संघर्ष चल ही रहा है। प्रश्न होता है—क्या इसका समाधान संभव है?

भगवान् महावीर ने इसके समाधान का एक सूत्र दिया था कि किसी की आजीविका का विच्छेद मत करो। यह पापपूर्ण प्रवृत्ति है। किसी की वृत्ति का उच्छेद न करना, यानी जिसका जो हिस्सा है उसको उतना प्राप्त करा देना। जिसको जितना पाने का अधिकार है, न्याय है, उसे कम करना आजीविका का विच्छेद करना है। यह अहिंसा धर्म का अतिक्रमण है। अहिंसक ऐसा कभी नहीं कर सकता। इस सूत्र का विकास तभी संभव है जब मस्तिष्क का परिवर्तन हो, नए मस्तिष्क का निर्माण हो। जिसका मस्तिष्क बदल गया उसका संबन्ध यथार्थ के आधार पर होगा।

सम्बन्ध की दो भूमिकाएं हैं—स्वार्थपरक संबन्ध और यथार्थपरक संबन्ध। वर्तमान के समाज में स्वार्थपरक संबन्ध चल रहा है। यथार्थ है ही नहीं या न्यून है। यथार्थपरक संबन्ध का आधार है सचाई। जब मिल मालिक को उस सचाई का अवबोध हो जाता है तो वह कहेगा, इतना मेरा नहीं है, मैं नहीं लूंगा। मजदूर कहेगा, इतना मेरा नहीं है, मैं नहीं लूंगा। दोनों का संबन्ध यथार्थपरक होगा। यह तभी संभव है जब मस्तिष्क बदले।

प्रत्येक व्यक्ति ने अच्छी आकांक्षाएं संजो रखी हैं। वह चाहता है समाज अच्छा बने, व्यक्ति अच्छा बने। माता-पिता चाहते हैं, लड़का अच्छा बने। लड़का चाहता है, माता-पिता अच्छे हों। अच्छे की आकांक्षा सबको है। इसकी पूर्ति नए मस्तिष्क से ही हो सकती है। पर मस्तिष्क को बदलने की तैयारी किसी की नहीं है।

एक मित्र ने दूसरे मित्र से पूछा, अरे! तुम सीमेन्ट का कारखाना लगाना चाहते थे, क्या हुआ उसका? वह बोला—कारखाना खड़ा करने के लिए सीमेन्ट ही नहीं मिली तो कारखाना कैसे लगता?

मस्तिष्क के परिष्कार के लिए ध्यान आवश्यक है। जब हम स्वयं को जानना-देखना प्रारंभ करते हैं तब जमी हुई धारणाएं बदलनी प्रारंभ हो जाती हैं। जिनके आधार पर जीवन चलता है, उन मान्यताओं में परिवर्तन

आने लगता है। जब धारणाओं मे परिवर्तन होगा तो मानवीय संबन्धों में भी परिवर्तन आएगा। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है धारणा को बदलने का, तोड़ने का। भीतर धारणाओं का अंबार सा लगा हुआ है। इनको एक-एक कर बाहर निकालना होगा। धारणाएं तब टूटती हैं जब प्रतिबद्धताएं एक-एक कर बिखर जाती हैं। जितनी गहराई से हम भीतर देखेंगे, धारणाएं उतनी ही कमजोर होती जाएंगी। जितना धारणाओं का भार आदमी ढोता है, उतना एक गधा भी नहीं ढोता। धारणाएं बडी विचित्र होती हैं।

आचार्य श्री ने एक गांव से प्रस्थान किया। सामने से एक विधवा बहिन आ रही थी। साथवाली एक बहिन चिल्ला उठी, हटो, हटो, अपशकुन मत करो। वह विधवा बेचारी सकपका गई। एक ओर हट गई। आचार्य श्री ने पूछा—क्या हो गया ? वह बहिन बोली—आप विहार कर रहे हैं। सामने वाली महिला विधवा है। यह अपशकुन माना जाता है। विहार में अपशकुन अच्छा नहीं है। 'आचार्य श्री ने सुना। फिर कहा—यह गलत मान्यता है। हम तो उसी बहिन का शकुन लेकर विहार करेंगे। एक विधवा बहिन, जो अपने धर्म पर चलती है, सदाचार और कुलाचार का पालन करती है, वह तो और अधिक पवित्र होती है। उसका अपशकुन कैसे माना जाए ?

दिमाग में न जाने ऐसी कितनी धारणाएं भरी पडी हैं। इन धारणाओं से संकीर्ण इस मस्तिष्क में यथार्थ का पता नहीं चलता। जब व्यक्ति भीतर में उतर कर इनको देखता है तब सचाई प्रगट होने लगती है, मस्तिष्क भारशून्य होता है।

जीवन परिवर्तन की प्रक्रिया है ध्यान। इससे धारणाएं बदलती हैं। जब धारणाएं बदलेंगी तो मस्तिष्क बदलेगा। मस्तिष्क बदलेगा तो व्यक्तित्व बदलेगा। व्यक्तित्व के बदलने पर समाज बदलेगा।

एक शब्द मे कहा जा सकता है कि परिवर्तन के लिए मस्तिष्क के *नव निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति* को इसका अनुभव करना चाहिए।

काम-शक्ति का विकास

जीवन का विकास क्रमिक विकास है। एक बच्चे में भी सारी शक्तियां होती हैं, पर उनका विकास समग्रता से नहीं होता। जैसे-जैसे अवस्था का परिपाक होता है, वैसे-वैसे शक्तियां विकसित होती जाती हैं। जीवन की पहली अवस्था बचपन (१—१० वर्ष) में अनेक शक्तियां अव्यक्त रहती हैं। दूसरी अवस्था (११—२० वर्ष) में कुछ शक्तियां विकसित होती हैं। क्रीड़ा की शक्ति का पूरा विकास हो जाता है। तीसरी अवस्था (२१—३० वर्ष) में कामशक्ति का विकास हो जाता है और तब व्यक्ति 'समत्थो भुजिउं भोगाइं'—भोग भोगने में समर्थ हो जाता है। बीस वर्ष से पूर्व इस कामशक्ति का विकास नहीं होता।

वैदिक परंपरा में जीवन के सौ वर्षों को चार भागों में बांटा है। उनके आधार पर चार आश्रमों की कल्पना की है। प्रत्येक आश्रम के पचीस-पचीस वर्ष निर्धारित हैं—

१. ब्रह्मचर्य आश्रम—२५ वर्ष
२. गृहस्थ आश्रम—२५ वर्ष
३. वानप्रस्थ आश्रम—२५ वर्ष
४. संन्यास आश्रम—२५ वर्ष

जैन परंपरा में सौ वर्ष के जीवन को दस भागों में विभक्त किया है, प्रत्येक विभाग का कालमान दस-दस वर्ष का है।

जीवन की तीसरी अवस्था (२१—३० वर्ष) में कामशक्ति का विकास होता है इसका तात्पर्य है कि प्रथम बीस वर्ष तक पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना जरूरी है। यह संन्यासी बनने की पूर्व भूमिका के रूप में उल्लिखित नहीं है, किन्तु प्राकृतिक स्थिति के आधार पर यह निरूपण है। बीस वर्ष तक कामशक्ति का पूर्ण विकास नहीं होता। काम-सेवन के लिए वह अपरिपक्व अवस्था है। इस अपरिपक्व अवस्था में यदि कोई व्यक्ति काम-सेवन की दिशा में चला जाता है तो वह जीवन के प्रति न्याय नहीं करता। उसकी जीवनी-शक्ति चुक जाती है। फल जब तक पक नहीं जाता, वह मीठा नहीं होता।

अपका फल कषैला होता है, खट्टा होता है। पकने पर ही फल की उपयोगिता बढ़ती है।

यह जान लेना आवश्यक है कि बीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन क्यों किया जाए ? जब तक किसी भी लड़के-लड़की को कामशक्ति का ज्ञान नहीं होता, वे गलत आचरणों में फंसकर अपनी शक्ति को क्षीण कर देते हैं। फिर वे बहुत पश्चात्ताप करते हैं।

आज एक चर्चा चल रही है कि बच्चों को काम-शिक्षा दी जाए या नही ? कुछ लोग इसका समर्थन करते हैं और कुछ विरोध। दोनों के पास अपने-अपने तर्क हैं। तर्क का कही अन्त नहीं है। मैं मानता हूं कि प्रत्येक को काम-संयम की शिक्षा मिलनी चाहिए। आदमी को रोटी खाने के लाभ-अलाभ का ज्ञान न हो तो वह मूर्खता ही कही जाएगी। जो भी वह काम करे, उसका ज्ञान आवश्यक होता है। ज्ञान होने पर आदमी लाभ की ओर प्रवृत्त होगा, अलाभ से बचेगा। यौन-शिक्षा देना हानिकारक नही लगती, बचाव की बात अधिक हो सकती है। यौन-शिक्षा के साथ-साथ यौन-संयम की बात जोड़ दी जाए तो हानियां कम होंगी, बचाव अधिक होगा। बहुत कम लोग जानते हैं कि अति-काम से क्या-क्या हानियां होती हैं। असमय मे काम-सेवन से अनेक हानियां होती हैं, यह ज्ञान होना आवश्यक है। काम-सेवन के लिए समय की मर्यादा है, अवस्था की सीमा है। देश और काल की भी सीमा है। जो इन सारी बातों को नही जानता, वह शीघ्र ही जीवन को खोखला बना देता है, शक्ति-शून्य कर देता है। उसकी दिमागी शक्ति क्षीण हो जाती है। वह ऐसे उन्माद में चला जाता है जहां प्रतिशोध, ईर्ष्या, प्रतिक्रिया और विद्रोह की भावना जागती है।

फ्रायड कहता है कि मनुष्य के जीवन में कामशक्ति आदि से अन्त तक रहती है। आदमी जीवन पर्यन्त कामैषणा में रत रहता है और येनकेन प्रकारेण कामसुख पाना चाहता है। इसलिए फ्रायड का यह दृढ कथन है कि कामवासना का दमन नही होना चाहिए।

फ्रायड के इस सिद्धान्त ने कुछ सचाई प्रगट की है तो कुछ भ्रान्तियां भी पैदा की हैं। इन भ्रान्तियों के कारण समाज में उच्छृंखल यौनाचार चल पड़ा। कामुकता इतनी बढ़ गई कि उसके भयंकर परिणाम समाज भोग रहा है। पूरा समाज घबरा गया है और वह त्राण के लिए इधर-उधर देख रहा है। इस मुक्त यौनाचार ने अनेक बीमारियों को जन्म दिया है। 'एड्स'

का रोग उसी का एक परिणाम है। आज लाखों लोग इस रोग से पीड़ित हैं और इसका मुख्य कारण माना गया है समलैंगिक व्यभिचार, अप्राकृतिक मैथुन। आज इसका त्रास इतना है कि आदमी जितना केन्सर से नहीं डरता, उतना इस 'एड्स' की बीमारी से डरता है। केन्सर छूत का रोग नहीं है। डाक्टर बड़े उत्साह से उसकी चिकित्सा करता है। परन्तु एड्स छूत का रोग है। कोई डाक्टर उस रोगी की चिकित्सा करना नहीं चाहता। यदि विद्यालय में पता लग जाए कि अमुक विद्यार्थी 'एड्स' के रोग से आक्रान्त है तो उसे स्कूल से निकाल दिया जाता है। जिस किसी को यह रोग लग गया, उसे बुरी मौत मरना पड़ता है। आज अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशों में यह रोग तेजी से प्रसार पा रहा है। उसकी रोकथाम के लिए अनेक प्रयत्न चल रहे हैं। समाचार पत्र इससे होने वाली हानियां और इससे छुटकारा पाने के अनेक उपाय प्रचारित कर रहे हैं। जब एड्स की बीमारी की बात सुनी तो भगवान् महावीर की यह वाणी स्मृति-पटल पर नाचने लगी—

'जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो॥"

किंपाक फल रंग-रूप में अत्यन्त सुन्दर और मोहक होता है। उसका रस मीठा होता है, पर उसका परिणाम सुखद नहीं होता। जो एक बार भी उसे खा लेता है वह लंबी नींद सो जाता है, फिर कभी नहीं जागता। इसी प्रकार यौनाचार प्रारम्भ में अच्छा लगता है, पर परिणाम बुरा होता है।

यदि जीवन के प्रारंभिक काल में, दूसरे दशक में, प्रत्येक लड़के-लड़की को कामशक्ति के विषय में परिचित करा दिया जाए, काम-संयम का पाठ पढ़ा दिया जाए, काम-संयम के क्या-क्या लाभ हैं और काम-असंयम की क्या-क्या हानियां हैं, इनकी पूरी जानकारी दे दी जाए तो संभव है बच्चे बिगड़ेंगे नहीं, बच जाएंगे। यह स्वाभाविक है कि पांचों इन्द्रियां अपनी-अपनी मांग प्रस्तुत करती हैं। उनका काम है—मांग प्रस्तुत करना। यदि आदमी उनकी प्रत्येक मांग को मानता चला जाए तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। आदमी में एक प्रबल शक्ति है विवेक की। उसमें विवेक की चेतना होती है। उस चेतना का यही काम है कि इन्द्रियों की मांगों की काट-छांट कर स्वीकार करना। यही साधना का एक बिन्दु है।

जब आदमी इच्छाओं का दास बन जाता है, प्रत्येक इच्छा की पूर्ति में रत रहता है, इन्द्रियों के पीछे-पीछे चलता है, वह अपने अमूल्य जीवन को

नीरस बना डालता है, रस निचुड़े हुए ईख के छिलके की भांति उसका जीवन खोखला बन जाता है। तब केवल मक्खियां भिनभिनाती हैं।

जीवन की काम-ऊर्जा को हम कैसे काम मे लें, यह शिक्षा आवश्यक है। काम-शिक्षा इसीलिए जरूरी है।

मनोवैज्ञानिक एड्लर ने फ्रायड से विपरीत बात कही कि जो सेक्स प्लेजर (Sex-pleasure) आदमी में जीवनभर रहता है, वह मूल प्रेरणा नहीं है। जीवन की मूल प्रेरणा है शक्ति का विकास। आदमी शक्ति का विकास और संचय करना चाहता है। वह शक्ति का जीवन जीना चाहता है। यहां परिष्कार की बात आती है। काम-सेवन से जीवन शक्ति-शून्य बनता है और शक्ति-शून्य जीवन कीड़ों-मकोड़ों का भी होता है। आदमी शक्ति-शून्य और दीनता का जीवन जीना नहीं चाहता। वही जीवन सार्थक जीवन होता है जिसमें शक्ति होती है। वही आदमी महान् होता है जो अपनी शक्ति के भरोसे जीता है।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ह्यूम ने इन दोनों मनोवैज्ञानिकों—फ्रायड और एड्लर—के कथन का प्रतिवाद किया। उसने कहा—सेक्स एनर्जी और शक्ति-संचय—ये दोनों जीवन की मूल प्रेरणाएं नहीं हैं। जीवन की मूल प्रेरणा है—व्यक्तित्व का विकास। प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तित्व के विकास के लिए जीवनभर प्रयत्न करता रहता है, इसलिए जीवन की मूल प्रेरणा यही है। उस व्यक्ति के जीवन की पूरी ऊर्जा उसी दिशा में प्रवाहित होती है। जो व्यक्ति जीवन में सफलता चाहता है वह काम (Sex) को भी गौण कर देता है, शक्ति का विकास और नियोजन भी करता है, पर उसका मूल उद्देश्य रहता है—व्यक्तित्व का विकास। वह उसमें बाधा नहीं चाहता।

व्यक्तित्व-विकास में अनेक विघ्न हैं। ऐसा जीवन किसी का नहीं होता कि जीवन में बाधा न आए। निर्विघ्न जीवन जीने वाला हजारों वर्षों में कोई एक जनमता होगा। हर आदमी के जीवन में उतार-चढ़ाव आते हैं, विघ्न आते हैं। जो अपनी ऊर्जा का अपव्यय नहीं करता, अधिक व्यय नहीं करता, वह विकास की दिशा में सतत बढ़ता रहता है। वह बाधाओं को चीरकर सफलता का वरण कर लेता है। जो व्यक्ति अपने जीवन की ऊर्जा का अपव्यय करता है, अधिक व्यय करता है, वह पग-पग पर अटकता जाता है, कमजोर हो जाता है, पैर ठिठुर जाते हैं। उसका जीवन शक्तिशून्य हो जाता है। उसका जीना हराम हो जाता है। बाधाओं का पार तभी पाया जा सकता है,

जब ऊर्जा की प्रबलता होती है। ऊर्जा की प्रबलता काम-संयम से प्राप्त होती है। काम-सेवन से ऊर्जा का अतिरिक्त क्षरण होता है।

ज्ञानेन्द्रियां भी पांच हैं और कर्मेन्द्रियां भी पांच हैं। प्रत्येक इन्द्रिय की एक-एक कर्मेन्द्रिय है। जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय है। उसकी कर्मेन्द्रिय है जननेन्द्रिय।

जीभ का और जननेन्द्रिय का बहुत गहरा संबंध है। जिसे काम-शक्ति पर संयम करना है, उसे जीभ पर संयम करना होगा। जो इस सम्बन्ध को नही जानते, वे जीवन में कष्ट पाते हैं। कोई भी व्यक्ति जननेन्द्रिय का सीधा संयमन नहीं कर सकता। उस पर संयमन करने के लिए जीभ पर संयम करना होगा। आदमी स्वादिष्ट और गरिष्ठ भोजन करता भी जाए और काम-वासना पर नियंत्रण की बात सोचता रहे, तो यह विरोधाभासी चिन्तन होगा, प्रवृत्ति होगी।

बाप ने बेटे से कहा—बेटे! जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अनुभव बताता हूं कि मैंने शादी करके बडी भूल की। तुम भूलचूक कर भी शादी मत करना। बेटे ने कहा—पिताजी! आपकी शिक्षा को मैं स्वीकार करता हूं। मैं कभी शादी नहीं करूंगा और अपने बेटे को भी यही सीख दूंगा कि बेटे! शादी कभी मत करना।

कितना विरोधाभास! हमें इन सारे विरोधाभासों से बचकर जीवन की एक निश्चित प्रणाली बनानी होगी। जिस व्यक्ति को काम-संयम का जीवन जीना है, उसे आहार-संयम का जीवन जीना होगा। यदि ऐसा नहीं होता है तो ठीक वही बात होगी, शादी नहीं करूंगा और बेटे को भी वही सीख दूंगा।

आहार-संयम व्यक्तित्व विकास का महत्वपूर्ण घटक है, किन्तु आदमी इसके प्रति पूर्ण उदासीन है। स्वास्थ्य का और भोजन का गहरा सम्बन्ध है।

सन् १९८४ का चातुर्मास जोधपुर में था। हम दूर पहाड़ियों पर शौच के लिए जाते। लौटते समय एक घाटी को पार कर रहे थे। उतरते समय आचार्यश्री थोड़े रुके और बोले—महाप्रज्ञजी! यदि पहले से ही हम आहार के विषय में सावचेत हो जाते तो पूरे शतायु हो सकते थे। पहले यह ध्यान नही दिया। ध्यान देते भी कैसे, जब इस विषय का पूरा ज्ञान भी नहीं था। आचार्यश्री जब ३८-४० के हुए और मैं ३४-३५ में पहुंचा तब पूरा ध्यान दिया। इससे भी हमें लाभ मिला। यदि हम उस समय सावधान नही होते तो जीवन की बहुत सारी शक्तियां ऐसे ही खर्च हो जातीं। जो काम

आज तक हमने किया है या कर रहे हैं, जो चिन्तन दिया है, दे रहे हैं, वह कभी नहीं होता।

शक्ति या तो पेट में खपेगी या मस्तिष्क में खपेगी। पेटू व्यक्ति की सारी ऊर्जा पदार्थ को पचाने मे व्यय हो जाती है और जो चिन्तन करता है, ध्यान करता है, कम खाता है, उसकी शक्ति मस्तिष्क के काम आती है।

विक्रम संवत् २००५ से हमारे धर्मसंघ में आहार विषयक मोड़ आया है। आज ३७-३८ वर्ष हो रहे हैं। इन वर्षों में स्वाध्याय, ध्यान और चिन्तन में बहुत विकास हुआ है।

दो दृष्टिकोण हैं। पहला है स्वास्थ्य का दृष्टिकोण और दूसरा है काम-संयम का दृष्टिकोण। दोनों का गहरा सम्बन्ध है। एक है ज्ञानेन्द्रिय और दूसरी है कर्मेन्द्रिय। हम कर्मेन्द्रिय पर संयम तभी कर सकते हैं, जब ज्ञानेन्द्रिय पर हमारा संयम सध जाता है। आज के वैज्ञानिकों और प्राचीन तंत्राचार्यों ने इस विषय पर बहुत ऊहापोह प्रस्तुत किया है और महत्वपूर्ण रहस्य उद्घाटित किए हैं। उस चर्चा को समझने वाले विरल ही हो सकते हैं, इसलिए उसको नहीं छू रहा हूं। इतना ही यहां कहना पर्याप्त है कि भगवान् महावीर ने जहां-जहां ब्रह्मचर्य का प्रतिपादन किया वहां-वहां, उससे पूर्व, आहार-संयम का प्रतिपादन किया। उत्तराध्ययन आगम के बत्तीसवें अध्ययन में इसकी लंबी चर्चा है। भगवान् कहते हैं—बहुत गरिष्ठ भोजन, सरस रसों का भोग उन्माद पैदा करता है, काम को उभारता है। आचारांग आगम में ब्रह्मचर्य का साधना-सूत्र है निर्बल भोजन। आज की भाषा में इसे कम केलोरी वाला भोजन कहा जा सकता है। ज्यादा केलोरी खाना अच्छा नहीं है। पोषण भर हो जाए और वह भी संतुलन के साथ, इतना पर्याप्त है।

आज का आदमी बहुत पढ़ता-लिखता है, सोचता-समझता है। वह सब कुछ करता है, पर अपने जीवन के बारे मे बहुत कम सोचता है, स्वास्थ्य के विषय में बहुत कम चिन्तन करता है। यदि वह स्वास्थ्य को केन्द्र में रख-कर जीवन जीना चाहता है तो उसे आहार-संयम और काम-संयम की शिक्षा लेनी होगी।

काम-असंयम का मुख्य परिणाम है स्नायु-दौर्बल्य, रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति का ह्रास। स्नायविक दुर्बलता, डिप्रेशन, आज की मुख्य बीमारी है और इसका मुख्य कारण है काम की अति। लोगों ने एक बात पकड़ ली कि इच्छा का दमन मत करो। अरे भाई ! दमन नहीं शमन तो करो। दमन का अर्थ

है शमन । दूध उफन रहा है । पानी के छींटे दिए और उसका उफान शांत हो जाता है । यह उपशमन है । हमें उपशमन को जानना है । दूसरे शब्दों में हमारी विवेक चेतना का पूर्ण जागरण होना चाहिए । इन्द्रियां अपनी मांगें प्रस्तुत करती है । यह विवेक होना बहुत जरूरी है कि कौनसी माग पूरी की जाए और किसको नकारा जाए ।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग इस विवेक-जागरण मे सहयोगी बनेगा और आपका जीवन-पथ आलोकित होकर नया प्रकाश देगा ।

शक्ति-विकास और शक्ति-प्रदर्शन

जीवन की चौथी अवस्था का कालमान है इकतीस से चालीस वर्ष का। इस अवस्था में शक्ति का विकास होता है, शक्ति-प्रदर्शन का अवसर मिलता है। बत्तीस वर्ष का व्यक्ति तरुण माना जाता है। जहां कही शक्ति-प्रदर्शन का प्रसंग आता है वहां बत्तीस वर्ष के तरुण की चर्चा मिलेगी। इस अवस्था में शक्ति अपने पूर्ण विकास पर होती है और आदमी 'समर्थो बलं दर्शयितुम्'—अपनी शक्ति प्रदर्शित करने में समर्थ होता है। शक्ति का विकास और संचय जरूरी होता है, पर शक्ति का प्रदर्शन किस अवस्था में कितना आवश्यक है, यह एक विमर्श का विन्दु है। उसका प्रदर्शन किया जाए या नहीं ? किया जाए तो किस दिशा में किया जाए, यह एक प्रश्न है।

आज शक्ति का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न दिशाओं में हो रहा है। कुश्ती में, खेल में, शक्ति का प्रदर्शन होता है। यह शक्ति का प्रदर्शन समाज-सम्मत है। डाकू, चोर हत्यारा भी शक्ति का प्रदर्शन करता है, पर यह समाज-सम्मत नही है। डाकू और चोर मे भी शक्ति अपेक्षित है। अन्यथा वह डाका नहीं डाल सकता, चोरी नहीं कर सकता। दूसरे की हत्या करने में भी शक्ति चाहिए। कमजोर व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

शक्ति का वह प्रदर्शन जिसमे समाज का हित हो, कल्याण हो, रुचि का संवर्धन हो, सम्मत होता है। जिसके द्वारा समाज का हित और कल्याण नहीं सधता, व्यक्ति का भी हित-कल्याण नहीं सधता, वह शक्ति का प्रदर्शन सम्मत नहीं हो सकता। कभी-कभी आदमी शक्ति का इतनी मूर्खता से प्रदर्शन करता है कि सर्वत्र हानि ही हानि होती है।

दो-चार अफीमची एक गांव में आ पहुंचे। रात्रिवास वहीं किया। उस गाव में मच्छर बहुत थे। मच्छरो ने उन्हें बहुत परेशान किया। उनके पास बन्दूकें थी। एक तो वे नशे में धुत थे, दूसरे में उनको शस्त्र का नशा था। उन्होंने सोचा कि मच्छरों से मोर्चा लेना है। गंदा नाला वह रहा था। मच्छर मंडरा रहे थे। सबने मोर्चा संभाला। एक ने अपने साथी के गले पर बैठे मच्छर को मारने गोली दागी। वह गोली साथी को लगी। मच्छर भी

मर गया और साथी भी चल बसा। दूसरे साथी ने कहा—कैसा रहा मो
हार-जीत क्या रही ? वह बोला—मच्छर का एक साथी भी मर गया
अपना भी एक साथी मारा गया। बाजी बराबर रही। न कोई हारा और
कोई जीता।

मूर्ख आदमी अपनी शक्ति का प्रदर्शन गलत ढंग से ही करता है। अहंकार, मूर्खता, अभिनिवेश—ये कुछ ऐसे कारण हैं जो शक्ति के प्रदर्शन को गलत बना देते हैं। शक्ति गलत नहीं होती। उसका प्रयोग गलत हो सकता है। यह विवेक बहुत आवश्यक है। जीवन की इस चौथी अवस्था में यह विवेक जागृत रहता है तो शक्ति का बहुत बड़ा उपयोग हो सकता है। बड़ा काम बीस वर्ष की अवस्था में या सत्तर वर्ष की अवस्था में नहीं किया जा सकता। किन्तु वह किया जा सकता है जीवन की इस तुरीय अवस्था में, तीस से चालीस वर्ष की अवस्था में।

शक्ति के प्रयोग की दो दिशाएं हैं। एक है ध्वंसात्मक दिशा और दूसरी है सृजनात्मक दिशा। शक्ति का प्रयोग यदि ध्वंस मे, उत्पीडन में लग जाता है तो वह शक्ति कहर ढा देती है। ऐसा व्यक्ति निरंतर बुरा सोचता है, बुरे विकल्पों से घिरा रहता है। जो व्यक्ति शक्ति का प्रयोग सृजन में करता है, उसका चिंतन स्वस्थ और कल्याणकारी होता है। विध्वंस में शक्ति लगाने वाला भक्षक है और सृजन में शक्ति लगाने वाला रक्षक है।

यहां एक प्रश्न उठता है कि दूसरों की रक्षा कौन करता है ? जो अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह दूसरों की रक्षा कभी नहीं कर सकता। जो आत्म-रक्षक है, वही पर-रक्षक होता है। आत्मरक्षा का अर्थ है—अपने आचार को सुरक्षित रखना, अपनी इन्द्रियों और मन को सुरक्षित रखना, अपनी वृत्तियों को नियंत्रित रखना। आत्म-रक्षक कभी दूसरों को नहीं सताएगा, कष्ट नहीं देगा। स्वयं कष्ट सह लेगा, पर दूसरों को पीड़ित नहीं करेगा। जिसमें अध्यात्म की चेतना जाग जाती है, वह कभी दूसरों को कष्ट नहीं दे सकता। कुछ पशु भी ऐसे होते हैं, जिनमें आत्मभाव जाग जाता है, वे भी कभी दूसरों को नहीं सताते।

ज्ञाताधर्मकथा का एक उदाहरण है। भयंकर जंगल। आग लगने की
भावना। एक यूथपति ने अपने बृहद् हस्ति-परिवार की रक्षा के लिए उस
ल में निस्तृण स्थान बनाया। वह बहुत बड़ा था। उसमें हजारों पशु
पद रह सकते थे। वहां आग का त्रास संभव नहीं था। एक दिन वास्तव

में दावानल सुलग गया। जंगल में हाहाकार मचा और सभी पशु उस निरापद स्थान की ओर दौड़ पड़े। यूथपति भी अपने पूरे परिवार के साथ वहां आ पहुंचा। वह स्थान खचाखच भर गया। यूथपति ने खुजली करने के लिए अपने एक पैर को ऊपर उठाया। उस रिक्त स्थान पर एक खरगोश आकर बैठ गया। यूथपति ने खुजली कर पैर को नीचे रखना चाहा। उसने देखा, एक खरगोश बैठा है। उसका मन दयार्द्र हुआ और उसने अपना पैर अधर में ही रोक दिया। उसने सोचा, मैं कष्ट झेल लूं, पर दूसरों को कष्ट न दूं। जब यह चेतना जाग जाती है तब दूसरों को कष्ट देने की बात समाप्त हो जाती है। जो आत्मा की रक्षा करता है, वही दूसरों की रक्षा कर सकता है। अपनी रक्षा का मर्म समझे बिना केवल दूसरों की रक्षा की बात करना एक भ्रम है; मायाजाल है।

प्रेक्षाध्यान का मूल सूत्र है—आत्म-रक्षा। अपने आपको बुराइयों से बचाओ, बुरे विचारों से बचाओ, बुरी भावनाओं से बचाओ, तब आत्म-रक्षा होगी। उस स्थिति में उस शक्ति का विकास होगा जिस शक्ति के द्वारा किसी का अनिष्ट नहीं होता। एक शक्ति का प्रयोजन होता है उठाना और एक शक्ति का प्रयोजन होता है गिराना। हमें उस शक्ति का विकास करना है जिससे उठाने का प्रयोजन सिद्ध हो। जहा दूसरों को गिराने की बात आती है वहां जो प्राप्य है वह नहीं मिलता। आदमी प्रकाश चाहता है, अंधकार नहीं। प्रकाश तब प्राप्त होगा जब दूसरों को उठाने की शक्ति का विकास होगा। जहां दूसरों के लिए अवरोध पैदा किया जाता है वहां प्रकाश प्राप्त नहीं होता, वहां अंधकार ही मिलता है।

जीवन के तीन बहुमूल्य घटक हैं—प्रकाश, आनन्द और स्वास्थ्य। हम शक्ति का ऐसा नियोजन करें कि जिससे ये तीनों प्राप्त हो जाएं। जिस व्यक्ति के जीवन में प्रकाश नहीं होता, वह न तो स्वस्थ रह सकता है और न आनन्द का जीवन जी सकता है। आंखें प्रकाश का प्रतीक है। जिसे ये प्राप्त नहीं हैं, उसके लिए सारा संसार अंधकारमय है, सारे पदार्थ व्यर्थ हैं।

प्रकाश आवश्यक है। एक है अपना प्रकाश और दूसरा है सूर्य का प्रकाश। ये दोनों होते हैं और यदि विवेक का प्रकाश न हो तो भी कुछ नहीं बनता। विवेक-चक्षु का उद्घाटित होना बहुत आवश्यक है।

चोर चोरी कर घर से आभूषणों की पेटी ले गया। मालिक ने पहरेदार से पूछा, तब उसने कहा—'मालिक! मैं जानता हूं कि चोर पेटी ले

गया। मैं जागता था। मैंने उसे नहीं रोका, क्योंकि पेटी पर ताला जड़ा हुआ था और चाबी आपके पास थी। मैंने सोचा वह चाबी लेने वापस आएगा तब पकड़ लूंगा।

जिसमें विवेक की आंख उद्घाटित नहीं होती, वह ऐसे गलत निर्णय ले लेता है। इसलिए तीनों प्रकार के प्रकाश की समन्विति आवश्यक है— आंख का प्रकाश, सूर्य का प्रकाश और विवेक का प्रकाश। ये तीनों होते हैं तब सही निर्णय लिया जा सकता है। ऐसा होने पर ही जीवन में आनन्द घटित हो सकता है।

दुनिया में सुख पाना बहुत कठिन बात है। आदमी सुख की सामग्री उपलब्ध कर सकता है, पर सुख पाना उसके वश की बात नहीं है। प्रायः धनाढ्य व्यक्तियों के पास सुख-सामग्री की कमी नहीं है। उनमें से कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो वास्तव में सुख का अनुभव करते हों। वे निरंतर दुःख भोगते हैं। जितना है उससे सुख नहीं पा रहे हैं, जितना नहीं है, उससे दुःख पा रहे है। अभाव का दुःख उन्हें कष्ट देता है। भाव का सुख नही, अभाव का दुःख है। बड़ी विचित्र स्थिति है।

आदमी दूसरों को देखकर अपने को देखता है। वह स्वयं कभी अपने को नही देखता। स्वास्थ्य को तोलेगा तो दूसरों के आधार पर, संपनन्ता को देखेगा तो दूसरे के आधार पर। वह दूसरों को देखकर ही स्वयं को तोलेगा।

शेखसादी बड़े फकीर थे। वे जा रहे थे। रास्ते में एक भिखारी बैठा था। शेखसादी ने देखा, वह अत्यन्त प्रसन्न और प्रफुल्लित है। उसके चेहरे पर कही चिन्ता की रेखा नही है। भिखारी को देखकर स्वयं को देखा, सोचा, मैं एक संत हूं, चिन्तक और विचारक हूं, फिर भी दिनभर उदास रहता हूं, चिन्ता ही चिन्ता। और एक यह भिखारी है जो अभाव में जी रहा है, खाने को न पूरा भोजन मिलता है, न इसके पास मकान और पूरे कपड़े ही हैं। अरे, यह तो विकलांग है। पैर भी नही हैं। फिर भी यह इतना खुश है! मैं भाव में जीता हुआ भी दुःखी हूं और यह अभाव में जीता हुआ भी सुखी है। रहस्य क्या है?

शेखसादी ने भिखारी के पास आकर पूछा—अरे भाई! तुम इतने अभावग्रस्त हो, फिर भी प्रसन्न कैसे? भिखारी बोला—मैंने जीवन का एक मंत्र सीखा है कि अभाव को नहीं देखना। मैं सोचता हूं, पैर नही तो क्या, ईश्वर ने मुझे दिमाग तो अच्छा दिया है! मैं दिमाग को देखकर परम प्रसन्न

रहता हूं और मुझे पैरों का अभाव कभी नहीं खटकता।

शेखसादी ने रहस्य को समझ लिया।

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक वे जो निरंतर अभाव को ही देखते रहते हैं और एक वे जो भाव को देखते रहते हैं। अभाव को देखने वाला, अपार संपत्ति का स्वामी होने पर भी सदा दुःखी रहता है और भाव को देखने वाला, पास में कुछ भी न होने पर भी, सदा सुखी रहता है, आनन्दित रहता है।

आज अभाव के दृष्टिकोण वाले लोग अधिक हैं। पचास लाख की संपत्तिवाला जब करोड़पति को देखता है तो सोचता है, अरे! मैं तो पीछे रह गया। यह सोचकर वह निरंतर दुःख का अनुभव करता रहता है। जिसके पास करोड़ है, वह सोचता है, अरे, मेरे पास है ही कितना! अमुक व्यक्ति के पास अरब की संपत्ति है। वह भी दुःख का संवेदन करता है। जो आदमी सदा अभाव को देखता है, भाव को नही देखता, उसके दुःख को भगवान् भी नहीं मिटा सकते। आनन्द उसी को प्राप्त होता है जो भाव को देखकर जीता है। जिसका मानस प्रकाश से भर गया वह कभी अभाव को नहीं देखेगा, भाव को ही देखेगा।

आचार्य ने शिष्य से पूछा—'तुम जनपद विहार करोगे और लोग तुम्हें गालियां देंगे, तब तुम क्या करोगे?' शिष्य बोला—मैं सोचूंगा, कोई बात नहीं, गालियां ही दीं, पीटा तो नहीं।'

'कोई पीटेगा तो क्या करोगे?'

'सोचूंगा, पीटा ही तो है, हाथ पैर, तो नहीं तोड़े!'

'यदि हाथ-पैर तोड़ दिए तो?'

'सोचूंगा, हाथ-पैर ही तो तोड़े, प्राण-वियोजन तो नहीं किया!'

यदि कोई मारने का प्रयत्न करेगा तो?

सोचूंगा, कोई बात नहीं। प्राण ही तो लूट रहा है, धर्म तो नहीं लूटा!'

यह है भावात्मक चिन्तन। जो सदा भावात्मक चिन्तन करता है वह अपने आनन्द को सुरक्षित रख लेता है। किन्तु यह कठिन कर्म है। जब विवेक का चक्षु खुल जाता है, तभी ऐसा होना संभव है। आदमी सामान्यतः यही सोचता है—'शठे शाठ्यं', एक गाली के बदले दस गालियां और ईंट का जवाब पत्थर से। इस दिशा में चिन्तन जाता ही नहीं कि गाली न देने का कितना महत्त्व है! ईंट का जवाब पत्थर से न देकर ईंट के प्रहार को समभाव से

रहने में कितना आनन्द है ! पर आदमी का चिन्तन सदा निषेधात्मक होता है । इसका कारण है सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव। इसका तात्पर्य है विवेक चेतना का अजागरण ।

तीन प्रकार के प्रकाश हैं । केवल सूर्य का प्रकाश ही कार्यकर नही होता, केवल आंख का प्रकाश भी कार्यकर नही होता । सूर्य है और आंख का प्रकाश नहीं है तो देखा नही जा सकता । आंख है और यदि सूर्य का प्रकाश नहीं है तो भी नही देखा जा सकता । सूर्य का प्रकाश है, आंख का प्रकाश भी है और यदि विवेक का प्रकाश नहीं है तो सही-सही नही देखा जा सकता। तीनों प्रकाश चाहिए । यह त्रिपदी है, त्रिपथगा है । यह प्रकाश की त्रिवेणी है । इन तीनों का योग होता है तब आनन्द का जीवन जीया जा सकता है। जिस व्यक्ति में प्रकाश है, आनन्द है, वही अपनी शक्ति का सही उपयोग कर सकता है । जिसमें प्रकाश नहीं है, उस व्यक्ति की शक्ति के सारे आयाम गलत होंगे । वह शक्ति उबारने वाली नही , मारने वाली होगी ।

जीवन की चौथी अवस्था (३१ से ४० वर्ष) शक्ति-प्रदर्शन की अवस्था है । माता-पिता या अभिभावक का परम कर्त्तव्य है कि वे इस अवस्था मे पहुंचने वाले अपने अधीनस्थ व्यक्ति पर पूरा ध्यान दें । शक्ति-प्रदर्शन की दिशा सही है या नहीं, यह ध्यान दें । यह अवस्था शक्ति विकास का चरमविन्दु है । जब शक्ति चरम विन्दु पर पहुंचती है तब उसमें अपार सामर्थ्य आ जाता है । पानी जब भाप बनता है तब उसकी शक्ति का अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता है । वायु मे सामान्य शक्ति है । वात्याचक्र में अपार शक्ति नियोजित हो जाती है । जब तक शक्ति का सही नियोजन नहीं होता, जब तक वह शक्ति उन्माद पैदा करती है, विनाश लाती है । शक्ति का सही नियोजन हो सके, यह वह अवस्था है । यदि सही नियोजन होता है तो त सारे काम संपन्न हो जाते हैं । चाहे पुरुष हो या स्त्री, शक्ति का दुरुप- हुए बिना नही रहता । जो प्रेक्षा का मर्म समझ लेते हैं, वे अपनी शक्ति सही उपयोग कर सकते हैं ।

प्रेक्षा का एक अर्थ है निरुपाधिक देखना । आदमी शुद्ध दृष्टि से कहां ता है ? शुद्ध चेतनावान् को देखना कठिन होता है ।

एक योगी अपनी साधिका बहिन से मिलने उसके घर गए । उस ह स्नान कर रही थी । वह निर्वस्त्रा थी । योगी ने दरवाजा खोला, ाल बन्द कर दिया । स्नान करने के पश्चात् बहिन से मिले । बहिन

बोली—आपने दरवाजा खोला और लौट कैसे गए ? योगी ने कहा—उस समय तुम निर्वस्त्र होकर स्नान कर रही थी। ऐसी स्थिति में मैं वहां कैसे ठहरता ? साधिका बोली—आप तो पहुंचे हुए संत हैं। आपमें अभी तक स्त्री-पुरुष का भेद विद्यमान है ? आप पहुंचे ही नहीं अभी तक।

यह अन्तर मिटना कठिन है। आंख के गोलक में जो देखने की शक्ति है, उससे रश्मियां निकलती हैं। उसको हमारे भावों की रश्मियां घेर लेती हैं। भाव दो ही प्रकार के होते हैं—प्रिय या अप्रिय। इस स्थिति में कोरा प्रकाश नहीं निकलता। घेरे का प्रकाश पहले निकलता है, फिर मूल प्रकाश। इसलिए हम प्रत्येक पदार्थ को उस घेरे के प्रकाश के आलोक में देखते हैं। हमें मूल पदार्थ अयथार्थ रूप में ही दीख पड़ता है। दृग्-शक्ति का विकास कठिन कर्म है।

जीवन के चौथे अध्याय में बहुत जागरूक रहने की आवश्यकता है। स्वयं को भी जागृत रहना है और अभिभावकों को भी जागृत रहना है। इससे ही शक्ति का सही नियोजन हो सकेगा। इस संदर्भ में एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि इकतीस वर्ष की अवस्था से पूर्व एक बार शिविर अवश्य कर लेना चाहिए, जिससे कि शक्ति का सही उपयोग सीखा जा सके, जीवन को अधिक आनन्दमय और सुखमय बनाया जा सके। जो व्यक्ति केवल पाशविक शक्ति के प्रदर्शन में लगे हुए हैं, वे कभी आगे नहीं बढ़ पाएंगे। जो अपनी आत्मशक्ति को बढ़ा पाएंगे, वे पिछड़ेंगे नहीं, वे प्रकाशपुञ्ज बन कर सबका मार्गदर्शन करेंगे। मैं नहीं चाहता कि साधक कमजोर हो। वह शक्ति-संपन्न हो और शक्ति का प्रदर्शन सही दिशा में करने वाला हो।

अध्यात्म की चतुष्पदी

जीवन की दो दिशाएं हैं—भौतिकवाद और अध्यात्मवाद। अध्यात्मवादी भी इस अध्यात्मवाद या अध्यात्म को यथार्थरूप से नही समझ पा रहे हैं। उन्होंने कुछ ऐसी अस्वाभाविक मान्यताएं या धारणाएं बना ली हैं, जिनसे कुछ मिलता नही। 'अपने अस्तित्व का बोध,' 'आत्मा का बोध'—ये शब्द दूर तक हमारा साथ नही देते। जब तक हम चेतन मस्तिष्क से काम लेते हैं, तब तक अस्तित्व तक पहुंचने की बात ही प्राप्त नही होगी।

अध्यात्म को हमें भिन्न दृष्टिकोण से समझना होगा। जब तक व्यक्ति का पदार्थ के प्रति सम्यक् दृष्किोण नही बनता तब तक कोई भी आध्यात्मिक नही हो सकता। पदार्थ के प्रति दृष्टिकोण सम्यक् होना चाहिए। आदमी पदार्थ को नित्य और शाश्वत मानकर ही व्यवहार कर रहा है। वह भले ही शब्दों में उसे अशाश्वत कह दे, अनित्य कह दे किन्तु अन्तर्वृत्ति में उसे नित्यता की अनुभूति हो रही है। इसीलिए कोई भी पदार्थ इधर-उधर होता है तो उसे कष्ट होता है।। कष्ट इसीलिए होता है कि उसने मान लिया कि पदार्थ मुझसे अलग नही है। जब तक पदार्थ के प्रति यह दृष्टिकोण बना रहता है तब तक अध्यात्म चेतना जागती नही। वह पदार्थ में शरण खोजता है। वह पदार्थ के बिना अपने आपको असहाय महसूस करता है। यह सारी पदार्थ के प्रति शरण की भावना का द्योतक है। पदार्थ पास में है तो सब कुछ है। पदार्थ नही है तो कुछ भी नहीं है। जब तक यह भ्रांति नही टूटती तब तक कोई आध्यात्मिक नही हो सकता। आदमी शरीर के साथ अभिन्नता का अनुभव किए बैठा है। जब तक पुद्गल और चेतन की भिन्न अनुभूति नही होती तब तक अध्यात्म में प्रवेश की बात ही प्राप्त नहीं होती। 'मैं पदार्थ से परे हूं,' 'मैं अकेला हूं'—यह अनुभूति अध्यात्म तक ले जाती है।

अध्यात्म की चतुष्पदी के ये चार चरण हैं—

१. अनित्य अनुप्रेक्षा

२. अशरण अनुप्रेक्षा

३. अन्यत्व अनुप्रेक्षा

४. एकत्व अनुप्रेक्षा

जिसमें अनित्यता, अशरणता, अन्यत्व और एकत्व की चेतना जाग जाती है वह आध्यात्मिक होता है और जिसमे यह चेतना की चतुष्टयी जागृत नहीं होती वह भौतिक होता है। केवल शब्दों के दोहराने से कोई अध्यात्मवादी नहीं होता। 'आत्मा का अनुभव करो,' 'चैतन्य का अनुभव करो,' ये सारे गढे हुए शब्द हैं। इनमें सार कम है। सचाई यह है कि जिस भूमिका पर हम हैं, उसमें न आत्मा का अनुभव हो सकता है और न अस्तित्व का अनुभव हो सकता है। हमें इनका अनुभव तब होगा जब हम अनुभव-चतुष्पदी का अभ्यास करते हैं। अनुभव का पहला चरण है अनित्यता का अभ्यास। जैसे-जैसे पदार्थ की अनित्यता का अभ्यास पुष्ट होगा वैसे-वैसे पदार्थ के संयोग और वियोग से होने वाली रति और अरति समाप्त हो जाएगी। आज प्रतिकूल पदार्थ मिलने पर विषाद और अनुकूल पदार्थ मिलने पर हर्ष होता है। अनुकूल पदार्थ का वियोग होने पर भी और प्रतिकूल पदार्थ का संयोग होने पर भी कष्ट होता है। जब अनित्यता की चेतना प्रखर होती है तब कोई कष्ट नहीं होता। जब यह सचाई कि पदार्थ का संयोग भी होता है और वियोग भी होता है, आत्मगत हो जाती है, केवल शाब्दिक नहीं रहती, तब कष्ट हो ही नही सकता। जब अनुभूति के स्तर पर यह चेतना जाग जाती है तब न मृत्यु का कष्ट होता है और न बुढ़ापे का कष्ट होता है। तब प्रतिकूलता भी कष्टदायी नही होती। अध्यात्मवादी ही इन कष्टों से बच सकता है। केवल अध्यात्म को पढने वाला, अध्यात्म पर प्रवचन करने वाला इन कष्टों से नहीं बच सकता। जो अध्यात्म को वास्तव में जीता है, अनुभूति के स्तर पर जीता है, वही बच सकता है। उसका आनन्द तभी अबाध हो सकता है। अनन्त हो सकता है। यदि व्यक्ति वर्तमान क्षण में इस अबाध आनन्द या मुक्ति का अनुभव नहीं करता वह मरने के बाद भी कभी नहीं कर पाएगा। मोक्ष उसी को मिलता है जो वर्तमान क्षण में मोक्ष का अनुभव करता है। इस अनुभव के लिए अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास जरूरी है। अभ्यास भी इतना प्रबल कि उसका साक्षात्कार हो जाए। वही मंत्र सिद्धमंत्र माना जाता है जिसका साक्षात्कार हो जाता है। 'ओम्,' 'अर्हं, आदि जितने भी मंत्र-पद हैं, उनका कितना ही जाप करें, परंतु जब तक उनका साक्षात्कार नहीं होता, तब तक उन्हें सिद्ध नही माना जा सकता। वैसे ही अनित्यता का साक्षात्कार होना आवश्यक है।

संबोधि क्या है ? अनित्यता का साक्षात्कार होना ही संबोधि है
साक्षात्कार होने का अर्थ है संबोधि की चेतना का जागरण। बोधि के तीन
प्रकार हैं—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चरित्रबोधि। बुद्ध भी तीन प्रकार
के हैं—ज्ञानबुद्ध, दर्शनबुद्ध और चारित्रबुद्ध। ज्ञान का साक्षात्कार, दर्शन या
सचाई का साक्षात्कार और आचरण का साक्षात्कार।

अनित्यता का साक्षात्कार अध्यात्म का पहला लक्षण है। यदि कोई
पूछे कि अध्यात्मिक व्यक्ति कौन तो उत्तर होगा, जिसने अनित्यता का साक्षात्
कर लिया, वह अध्यात्मिक है। हम नहीं कहेंगे कि जिसने आत्मा का
साक्षात्कार कर लिया वह अध्यात्मिक है, पर हम कहेंगे जिसने अनित्यता का
अनुभव कर लिया और उस अनुभव को जी रहा है, वह अध्यात्मिक व्यक्ति है।
जिसने अनित्यता का अनुभव नहीं किया वह भौतिकवादी है। या यों कहें कि
वह भौतिकता में जी रहा है।

दूसरा तत्त्व है अशरणवाद। महाराजा श्रेणिक ने अनाथि मुनि से
पूछा—यौवन अवस्था में मुनि कैसे बन गए ? मुनि ने कहा—'मैं अनाथ था।
मुझे कोई नाथ नहीं मिला।' श्रेणिक ने कहा—'मैं नाथ बनता हूं। मेरे
साथ चलो। महलों में आनन्द से रहो।' मुनि बोले—राजन् ! तुम स्वयं
अनाथ हो, तुम स्वयं अशरण हो, मेरे नाथ कैसे बनोगे ? मुझे शरण कैसे
दोगे ? राजा चौंका। पूछा, मैं अनाथ कैसे ? इतने बड़े साम्राज्य का अधि-
पति और अनाथ ! यह असंभव बात है। मुनि ने कहा—राजन् ! मैं अत्यन्त
धनाढ्य पिता का पुत्र था। संपदा की कोई कमी नहीं थी। मुझे चक्षु-वेदना
हुई। असह्य पीड़ा। उस पीड़ा को बंटाने वाला कोई नहीं मिला। उस
बीमारी से मेरे में अशरण की चेतना का जागरण हुआ और मुझे यह साक्षात्
अनुभव हुआ कि जगत् में कोई नहीं है शरण देने वाला। मैं अशरण हूं।
ह्य पदार्थ शरण देने में असमर्थ हैं। मैंने शरण अपने आपमें खोजा। संकल्प
या और वेदना मिट गई। अशरण की चेतना ने मुझे शरण खोजने की
में प्रस्थित किया और मैं मुनि बन गया। अब मुझे और किसी की
की आकांक्षा नहीं है।

अध्यात्मिक व्यक्ति वही होता है जिसमें अशरण की चेतना जाग
। जब तक इस चेतना का जागरण नहीं होता तब तक आदमी पदार्थ
रण खोजता है।

ी प्रकार के व्यक्ति होते हैं—परार्थाभिमुख और स्वार्थाभिमुख।

अध्यात्मिक वह होता है जो स्वार्थाभिमुख होता है, अपने प्रति अभिमुख होता है। जो परार्थाभिमुख होता है, वह भौतिक होता है। वह पदार्थाभिमुख होता है। वह प्रत्येक समस्या का समाधान पदार्थ में खोजता है। उसकी अभिमुखता पदार्थ की ओर होती है। जिस ओर अभिमुखता होगी, उसी ओर लक्ष्य होगा, उसी ओर गति होगी। यदि हमारा ध्यान स्वार्थाभिमुख है तो हम प्रत्येक समस्या का समाधान अपदार्थ में खोजेंगे। स्वार्थाभिमुखता आत्माभिमुखता है। यह अध्यात्म की सरल परिभाषा है। यह व्यवहारगम्य बात है, अतिवाद नहीं, दूर की कल्पना नहीं है। जब अनित्यता का अभ्यास जाग जाता है, तब कहीं भी मोह या मूर्च्छा जागेगी तो उसका समाधान हो जाएगा।

अवंती नगरी। धन नामक श्रेष्ठी। उसकी पुत्री का नाम था 'भट्टा' आठ भाइयों के बीच एक बहिन। पिता ने सभी से कह दिया—इसे कोई 'तू' कहकर न पुकारे। कालान्तर में इसका नाम 'अतूंकारी भट्टा' प्रचलित हो गया।

अति लाड-प्यार के कारण उसमें अहंकार उभर आया। वह न किसी को 'तू' कहती और न किसीसे 'तू' सुनती। वह युवती हुई। विवाह की चर्चा चलने लगी। उसने कहा—'मैं उसी के साथ विवाह करूंगी जो मेरी आज्ञा का पालन करेगा।' यह बात सर्वत्र फैल गई। कोई उसके साथ विवाह करने को राजी नहीं हुआ। अंत में उसी नगरी का राज्यमंत्री सुबुद्धि उससे विवाह करने के लिए राजी हो गया। दोनों का विवाह हो गया। सुबुद्धि कभी-कभार घर देरी से आता। भट्टा गुस्से मे आ जाती। एक बार मंत्री विशेष विलंब से घर पहुंचा। भट्टा मिसमिसायमाण बैठी थी। ज्योंही मंत्री घर पहुंचा, वह घर से निकल गई। चलते-चलते जंगल आ गया। चोरों ने उसे पकड़ कर अपने चोरपति को सौंप दिया। चोरपति ने उसे पत्नी बनाना चाहा, पर वह इन्कार हो गई। उसने उसे एक रक्त-व्यापारी के हाथों बेच दिया। रक्त-व्यापारी उसका रक्त निकाल कर बेचता। इससे भट्टा का शरीर सूख कर कांटा हो गया। इस तीव्र वेदना से उसमें क्षमा की चेतना जागी। एक बार उसका भाई उस नगरी मे गया। बहिन को अपने साथ ले गया। अब बहिन शान्त, परम शांत हो चुकी थी।

एक देव उसकी क्षमा की परीक्षा लेने मुनि का वेश बनाकर आया। उसने लक्षपाक तैल मांगा। यह अत्यन्त बहुमूल्य तैल होता है। अतूंकारी ने दासी से तैल का बर्तन लाने को कहा। दासी ज्यों ही तैल का बर्तन लेकर

चली, वह बर्तन फिसला, जमीन पर गिरा और फूट गया। उसने जाकर स्वामिनी से कहा। भट्टा बोली, दूसरा घड़ा ले आ। दासी दूसरा घड़ा लेने गई। जब वह लौट रही थी, तब वह भी जमीन पर गिरा और फूट गया। तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ। मुनि बोले—बहिन ! बड़ा नुकसान हो गया। इतना कीमती तैल ! तीनों घड़े फूट गए ! कितना नुकसान ! बहिन बोली—महाराज। मैंने अनुभव कर जान लिया है कि पदार्थ क्षणिक होता है, नश्वर होता है। वह शरणभूत नहीं होता। उसका संयोग होता है, वियोग होता है। एक दिन मिला था। आज चला गया। नुकसान कैसा ?

यह है पदार्थ की अनित्यता और अशरणता का साक्षात्कार। यह शाब्दिक नहीं, अनुभूतिपरक है।

आदमी का शरीर के प्रति गहरा ममत्व है। उसका अधिकाश समय उसी को सजाने-संवारने मे लग जाता है। उसकी मूर्च्छा इतनी गहरी है कि वह आत्मा और शरीर को एक ही मान बैठा है। शरीर को ही पूरा व्यक्तित्व मानकर चलता है। शरीर से भिन्न उसका अस्तित्व है, यह बात वह सोच भी नहीं सकता। जब तक यह बात रहती है तब तक आध्यात्मिकता नही आती। शरीर से भिन्न जो है वह मैं हूं, यह है अन्यत्व अनुप्रेक्षा का सूत्र। जब यह भेद-ज्ञान प्रगट होता है तब अध्यात्म मे प्रवेश होता है। आदमी व्यक्तित्व के तीन लक्षण मानता है—स्मृति, कल्पना और चिन्तन। ये तीनों आत्मिक नहीं, यांत्रिक हैं। कम्प्यूटर में ये तीनों नियोजित मिलते हैं। संवेदन आत्मिक होता है, यान्त्रिक नहीं हो सकता। सुख-दु:ख का संवेदन करने वाला जो है, वह है हमारा अस्तित्व। यह अन्यत्व की चेतना जब जागती है तब आध्यात्मिकता का प्रादुर्भाव होता है।

आदमी जितना अधिक बधनों से घिरा रहता है, उतना ही अपने को समर्थ मानता है। आदमी अकेला रहना नहीं जानता इसलिए वह कहता रहता है, मैंने अपने भाई का इतना भला किया, पर अंत मे वह मुझे धोखा दे गया। मैंने अमुक को इतना सहयोग दिया और आज वह मेरा कट्टर शत्रु बन गया है। मुझे बड़ा कष्ट होता है।' ऐसी घटनाएं तो होती हैं, पर कष्ट तभी होता है जब आदमी घिरा रहता है, अकेला रहना नहीं जानता। हम कितनी ही भलाई करें दूसरों का कल्याण करें, पर इस बात को न भूलें कि अन्ततः मैं अकेला हूं। जो इस बात को भुला देता है वह कष्ट की अनुभूति करता है। कष्ट को उसने स्वयं निमंत्रण दिया है। यह उसकी मूर्खता है।

अंतिम सचाई को याद रखने वाला कभी दुःखानुभूति नहीं करता।

ये अध्यात्म की चार सचाइयां हैं—

१. अनित्यता की अनुभूति

२. अशरणता की अनुभूति

३. अन्यत्व की अनुभूति

४. एकत्व की अनुभूति

आध्यात्मिक व्यक्तित्व उसी का हो सकता है, जिसमें ये चारों सचाइयां प्राप्त हैं। जो इन सचाइयां का साक्षात्कार कर लेता है वह सुख और आनन्द का जीवन जी सकता है। वही सुख की नींद सो सकता है।

पारिवारिक और सामुदायिक जीवन में जो मानसिक तनाव आता है, उसका कारण इन चारों में खोजा जा सकता है। तनाव का एक कारण होता है जब व्यक्ति को प्रतिकूल का संयोग और अनुकूल का वियोग होता है। पिता कल्पना करता है कि बेटा बुढ़ापे में सहयोगी बनेगा। बुढ़ापा आते-आते बेटा घर छोड़कर चला जाता है, अलग हो जाता है। बाप तनाव से ग्रस्त हो जाता है। जिसे वह शरण मान रहा था, वह अशरणभूत हो जाता है। जिसे वह अभिन्न मानकर चलता है, उनसे जब उसे भिन्नता की अनुभूति होती है, तब वह तिलतिला जाता है। जीवन जहरीला बन जाता है।

जिसके जीवन में यह चतुष्पदी उतर जाती है, उसके तनाव के कारण मिट जाते हैं।

अध्यात्म का अंतिम चरण है—अकेला होना। भगवान् महावीर ने इसको बहुत महत्त्व दिया। 'एगत्ता' अर्थात् एकत्व प्रतिमा। अकेले की प्रतिमा (साधना) को महावीर ने बहुत महत्व दिया। समूह में रहते हुए जिसने अकेला रहना सीख लिया उसने तनाव-मुक्ति का जीवन जीना सीख लिया। यह विरोधी बात लगती है—समूह में रहकर अकेला रहना। किन्तु अध्यात्म का सार यही है। यह नहीं कि अकेला गुफा में जाकर बैठ जाना। सबके बीच रहकर अकेले की अनुभूति करना बहुत बड़ा मंत्र है सफल जीवन का। यह साधना असंभव नहीं, कठिन अवश्य है। जब तक आदमी सत्य का साक्षात् नहीं करता तब तक वह कठिन लगता है। जब सत्य का साक्षात् हो जाता है तब जीवन सरस और आनन्दमय बन जाता है।

हम अध्यात्म को अव्यावहारिक न बनाएं। हम ऐसी बातें न कहें जो समझ से परे हों, जैसे—चैतन्य का अनुभव करें, आत्मा को देखें आदि-आदि।

ये इस मस्तिष्कीय जीवन से परे की बातें हैं, हमारी भूमिका से ऊंची बातें हैं। आध्यात्मिकता का अभ्यास व्यावहारिक होना चाहिए। ये चार अनुप्रेक्षाएं व्यावहारिक हैं। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में हमने सोलह अनुप्रेक्षाएं स्वीकृत की हैं। एक-एक अनुप्रेक्षा का अभ्यास महीनों तक किया जाता है तब वे जीवनगत होती हैं। यह मार्ग समस्याओं के समाधान का अमोघ मार्ग है और अध्यात्म के शिखर पर आरोहण करने का भव्य सोपान भी है।

जीवन विकास के लिए प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा का योग होना चाहिए। प्रेक्षा के बाद अनुप्रेक्षा और अनुप्रेक्षा के बाद पुनः प्रेक्षा। प्रेक्षा कुछ कठिन है, अनुप्रेक्षा सरल है। विचार परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा का महत्त्व है। इससे मस्तिष्क का परिष्कार हो सकता है।

अध्यात्म की इस चतुष्पदी को समझ लेने पर अध्यात्मवादी और भौतिकवादी की व्यावहारिक परिभाषा स्पष्ट समझ में आ जाती है। इससे अध्यात्मवाद की अतिवादी धारणाओं से बचा जा सकता है।

जागरूकता

शब्दं जाने ज्ञातुमिच्छाम्यशब्दं,
तर्कं जाने ज्ञातुमिच्छाम्यतर्कम् ।
चिन्तां जाने ज्ञातुमिच्छाम्यचिन्त्यं,
हस्तालम्बं देव ! देहि प्रशस्तम् ।

मैं शब्द को जानता हूं, पर जानना चाहता हूं अशब्द को । मैं तर्क को जानता हूं, पर जानना चाहता हूं अतर्क को । मैं चिन्तन को जानता हूं, पर जानना चाहता हूं अचिन्तन को । मुझे थोड़े-से सहारे की आवश्यकता है, हस्तावलंबन की आवश्यकता है ।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग एक सहारा है, हस्तावलंबन है अशब्द को जानने के लिए, अतर्क को जानने के लिए और अचिन्तन को जानने के लिए ।

यह प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षकों का शिविर है । जिन लोगों ने प्रेक्षाध्यान का प्रयोग किया है और प्रयोग करते-करते जो प्रशिक्षक की भूमिका तक पहुंच गये हैं वे भी अपने प्रशिक्षण को दोहराना चाहते हैं । यह ठीक है, जो स्वयं अभ्यासी नहीं होता, वह अच्छा प्रशिक्षक हो ही नहीं सकता । निरन्तर अभ्यास अपेक्षित होता है । सामान्य लोग शिविरों में अभ्यास के लिए आते हैं, किन्तु वे प्रशिक्षक नहीं बनते । कई शिविरों में भाग लेने के पश्चात् जिनका अभ्यास निरन्तर चलता रहता है, वे अभ्यास की एक भूमिका तक पहुंच जाते हैं और फिर उन्हें प्रशिक्षक की भूमिका तक ले जाया जाता है । वे प्रशिक्षक बनते हैं ।

प्रश्न होता है, साधना किसलिए ? हर आदमी जीवन में सफल होना चाहता है । असफलता का जीवन कोई जीना नही चाहता । सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है जागरूकता । जो जागरूक रहते है, सफलता उनका वरण करती है । जो लोग मूर्च्छा में रहते हैं वे कभी सफल नहीं हो सकते, असफलता उनका पीछा नही छोड़ती ।

एक आदमी परदेश जाने की सोचने लगा । बहुत चिन्तन के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि उसे दरिद्रता से छुटकारा पाने के लिए घर छोड़कर

अन्यत्र चला जाना चाहिए। अपनी सारी स्थिति का आकलन करते हुए उसने दरिद्रता से कहा—"मैं परदेश जा रहा हूं। तुम यहां रहकर मेरे घर की रखवाली करना।' दरिद्रता ने आश्चर्य के साथ कहा—"यह कैसे संभव है? मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकती। जहां तुम रहोगे, वहीं मैं रहूंगी।" उस व्यक्ति ने सोचा, परदेश जाना बेकार है। वहां भी दरिद्रता मेरा पीछा नहीं छोड़ेगी। अच्छा है कि मैं यहीं रहूं।

जो व्यक्ति मूर्च्छा में जीता है, असफलता उसका पीछा नहीं छोड़ती। जीवन में सफल वे लोग हुए हैं, जिनके साथ मूर्च्छा जुड़ी हुई नहीं थी। मूर्च्छित व्यक्ति स्थिति का सही आकलन नहीं कर पाता और वह पग-पग पर असफल रहता है। उसके विवेक और बुद्धि पर ऐसा आवरण आ जाता है कि वह सही निर्णय नहीं कर पाता। उसकी विवेक-ज्योति राख से ढक जाती है।

जीवन की सफलता का सूत्र है—जागरूकता और असफलता का सूत्र है—मूर्च्छा।

भगवान् महावीर ने दो गाथाओं में मूर्च्छा और जागरूकता का बहुत सुन्दर चित्रण किया है—

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियट्टई।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जंति राइओ॥
जा जा वच्चई रयणी न सा पडिनियट्टई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ।"

रातें निरंतर बीतती चली जा रही हैं। जो बीत गई सो बीत गई। वह लौटकर नहीं आती। पंछी कहीं जाता है तो रात को लौटकर अपने नीड में आ जाता है। एक काल ही ऐसा है जो लौटकर नहीं आता। अतीत कभी वर्तमान नहीं बनता। जो व्यक्ति अधर्म करता है, उसकी रातें निष्फल जाती हैं। जो व्यक्ति धर्म करता है उसकी रातें सफल जाती हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि अधर्म करने वाले की रातें लौटकर नहीं आती तो क्या धर्म करने वाले की रातें लौट आती हैं? काल कभी नहीं लौटता। अन्तर इतना आता है कि अधर्म करने वाले का क्षण व्यर्थ चला जाता है और धर्म करने वाले का क्षण सार्थक जाता है। अन्तर आता है व्यर्थता और सार्थकता का।

प्रश्न होता है कि धर्म क्या है? एक शब्द में कहा जा सकता है, धर्म है अप्रमाद, जागरूकता और अधर्म है प्रमाद, मूर्च्छा। जागना धर्म है और मूर्च्छित रहना अधर्म है।

जीवन का सबसे बड़ा धर्म है—जागरूकता। जो आदमी जागरूक नहीं होता, वह साधना का स्पर्श तक नहीं कर सकता। मूर्च्छा के अनेक रूप हैं—विकथा, विषय की आसक्ति, राग, प्रिय-अप्रिय का संवेदन। नींद भी मूर्च्छा है। नींद आवश्यक है स्वास्थ्य के लिए। पर इसका विवेक आवश्यक है। नींद लेना एक बात है और नींद को बहुमान देना दूसरी बात है। नींद को कभी बहुमान नहीं देना चाहिए। उसे केवल आवश्यकतापूर्ति का साधन मात्र मानना चाहिए। आवश्यकता पूरी हुई और समाप्त।

दिन में अधिक सोना बीमारियों को निमंत्रण देना है। आयुर्वेद में दिवस-शयन का सर्वथा निषेध है। यदि शरीर की विश्रान्ति को मिटाने के लिए सोना आवश्यक हो तो आधा घंटाभर विश्राम किया जा सकता है। अधिक नहीं। निद्रा मूर्च्छा है। मूर्च्छा में जाना अच्छा नहीं होता। जागरण का विघ्न है निद्रा।

विकथा भी मूर्च्छा का ही एक रूप है। इसमें समय का बहुत अपव्यय होता है। जो व्यक्ति समय न मिलने की शिकायत करते हैं, उनका भी अधिक समय विकथा में बीतता है। जब राजनीति और राजकथा का प्रसंग चल पड़ता है तो समय का ध्यान ही नहीं रहता। फिर आलोचनाएं-प्रत्यालोचनाएं चलती हैं और सारा समय उसी में बीत जाता है।

असफलता का एक सूत्र है—दूसरों के विषय में अधिक सोचना और सफलता का सूत्र है अपने विषय में अधिक सोचना।

इस समस्या को भोग रहा है। इससे छुटकारा पाने के लिये क्रमिक अभ्यास करना होता है। एक मिनिट की जागरूकता बढ़े, दो मिनिट की, तीन मिनट और चार मिनिट की। इस क्रम से बढ़ते-बढ़ते एक क्षण आता है कि जागरूक रहने की स्थिति बन जाती है। तब जागरूकता निरंतर हो जाती है।

हम जागरूकता को समझें। जागरूकता का अर्थ है—यथार्थ का स्वीकार। दुर्बल आदमी कभी जागरूक नहीं बन सकता। शक्तिशाली व्यक्ति ही जागरूक बन सकता है। जिसमें सचाई को स्वीकार करने की शक्ति होती है वही जागरूक हो सकता है। जो अपनी बीमारी को समझता है, अपनी कमजोरी को जानता है, अपनी पीड़ा को जानता है और यह स्वीकार करता है कि यहां पीड़ा है और मुझे उसका उपचार करना है, वह आदमी जागरूक होता है।

जागरूकता का अर्थ है—सत्य का स्वीकार और पीड़ा का उपचार।

प्राकृत साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है।

उज्जयिनी का शासक था जितशत्रु और सोपारक देश का शासक था सिंहजीत। दोनों मल्लविद्या के शौकीन थे। दोनों मल्लों को पालने में रुचि रखते थे। उज्जयिनी के राजा के पास एक बलशाली मल्ल था। उसका नाम था अट्टण। वर्ष में एक बार मल्लकुश्ती का आयोजन होता। विभिन्न देशों से मल्ल आते। कुश्तियां होतीं और अन्त में अट्टण की जीत होती। इससे मल्ल अट्टण की प्रशंसा के साथ ही साथ उज्जयिनी के शासक का यश भी बढ़ता। सोपारक के राजा के मन में भी यश की भावना जागी और उसने भी मल्लकुश्ती का आयोजन प्रारंभ किया। अट्टण भी वहां गया। उसने अनेक मल्लों को पछाड़ दिया। वह विजयी हुआ। सोपारक के शासक की निन्दा हुई। उसने पराजय के प्रतिकार का उपाय सोचा। एक बार उसने एक युवक को देखा। वह हृष्ट-पुष्ट था। महाराजा सिंहजीत ने उसे मल्लविद्या में निपुण करना चाहा। सारा दायित्व स्वयं पर ले लिया। उसे सारी सुविधाएं दी गईं। मल्लविद्या के सारे गुर उसे सिखाए गए। वह अत्यन्त बलशाली और निपुण हो गया। मल्लकुश्ती का आयोजन हुआ। अट्टण भी आया। कुश्ती हुई और नौजवान मल्ल ने अट्टण को धूल चटा दी। सर्वत्र सोपारक देश का जय जयकार होने लगा। अट्टण अपनी पराजय पर झुंझला उठा। उसने भी उपाय सोचा और नौजवान युवक को पास में रखकर उसे मल्लविद्या

मे निष्णात कर डाला। इसका नाम रखा फलिह्। कुश्ती का आयोजन हुआ। दोनों मल्ल, उज्जयिनी का मल्ल फलिह् और सोपारक का मल्ल मच्छिय आपस में गुत्थमगुत्था हो गये। पूरा दिन उखाड़-पछाड़ में बीता। कोई नहीं जीता। सायं कुश्ती दूसरे दिन के लिये स्थगित हो गई। सायं मच्छिय मल्ल के पास राजा गया और पूछा—कहीं चोट लगी हो तो बताओ। उसका पूरा उपचार कर लो, ताकि कल फिर पूरे जोश के साथ अखाड़े में उतर सको। उसमें अहंकार भी था और प्रमाद भी। उसने कहा—कहां है दर्द! कल मैं उसको पराजित कर दूंगा। उज्जयिनी का राजा भी अपने मल्ल फलिह् के पास गया। फलिह् से पूछताछ करने पर उसने बताया कि अमुक स्थान पर चोट आई है, अमुक स्थान पर पीड़ा है। उसने कुछ भी नहीं छिपाया। उपचार किया और वह तरोताजा हो गया। दूसरे दिन दोनों मल्ल भिड़े और फलिह् मल्ल ने मच्छिय मल्ल को जमीन पर पटक डाला। कारण स्पष्ट था कि फलिह् ने अपना उपचार करा डाला था और मच्छिय अपनी पीड़ा को छिपाये अहंकार में चूर था।

यह जीत जागरूकता की जीत है। यह हार मूर्च्छा की हार है। सचाई को अस्वीकार करना मूर्च्छा है। सचाई को स्वीकार करना जागरूकता है। जो व्यक्ति अपनी दुर्बलता को जानता है वह जागरूक होता है। जो अपनी दुर्बलता को नहीं जानता, वह मूर्च्छा मे जीता है। मूर्च्छा का अर्थ है—पराजय और जागरूकता का अर्थ है विजय।

साधना करने वाला व्यक्ति यह स्पष्ट समझ ले कि प्रत्येक व्यक्ति मे दुर्बलता होती है। इस दुनिया में जन्म ले और दुर्बलता न हो तो वह इस दुनिया के लायक नहीं रहता। इस दुनिया में जन्म लेने का अर्थ ही है दुर्बलता। साधक को अपनी दुर्बलता का पूरा भान होना चाहिए। उसे किसी भी परिस्थिति में दुर्बलता को छिपाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

अपनी दुर्बलता को स्वीकार न करना सबसे बड़ी बीमारी है। यह अचिकित्स्य बीमारी है। चिकित्सा की पहली शर्त है कि बीमार को अपनी बीमारी का अनुभव हो। अनुभव के बिना चिकित्सा नहीं हो सकती। चिकित्सा से पूर्व निदान आवश्यक होता है। चिकित्सा की भाषा में निदान और साधना की भाषा में कहें तो अपने आपको पहचानना साधना की पहली शर्त है। यह निदान जरूरी है कि मैं क्या हूं? कहां हूं? मेरा व्यवहार और आचरण कैसा है? जब तक यह निदान नहीं हो जाता, तब तक दुर्बलता की

चिकित्सा नहीं की जा सकती।

जागरूकता के दो अंग हैं—निदान यानी सचाई का स्वीकार और उसका उपचार। पहले पहचान, फिर उपचार। पहचानना बड़ा मुश्किल होता है। एक व्यक्ति राग-प्रकृति का होता है। उसमे प्रिय संवेदन के प्रति बहुत राग होता है। एक व्यक्ति द्वेष प्रकृति का होता है। उसमें अप्रिय संवेदन के प्रति बहुत आकर्षण होता है। वह लड़ाई में रस लेता है। विभिन्न प्रकृति के होते हैं लोग। सबसे पहले यह परीक्षा करनी चाहिए कि मैं कौन हूं ? क्या हूं! मेरा स्वभाव कैसा है? मेरी प्रकृति कैसी है? मुझमें किस की अधिक आसक्ति है? क्या खाने मे अधिक आसक्ति है या सुनने में या देखने में या गन्ध लेने में या स्पर्श के प्रति? कौनसी आसक्ति तीव्र है और कौनसी मंद है? यह निर्णय होना जरूरी है, क्योंकि साधना सबके लिये एक प्रकार की नहीं होती। साधक व्यक्तिगत चुनाव करता है। जिस विषय की ज्यादा आसक्ति होती है, उसी का उपचार किया जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनका आंख पर नियंत्रण होता है, किन्तु जीभ पर नहीं। वे रसलोलुप होते हैं। जिसमे जीभ की मूर्च्छा है, वह जागरूक नहीं हो सकता। रसलोलुपता को कम करने के लिये उसे भोजन के विभिन्न प्रयोगों से गुजारा जाता है। कभी उसे सरस भोजन और कभी विरस भोजन, कभी गर्म और कभी ठंडा, कभी अधिक और कभी न्यून—इस प्रकार विभिन्न प्रयोगों के द्वारा उसकी रसना को नियंत्रित किया जाता है और धीरे-धीरे वह जीभ पर विजय पा लेता है। इस प्रकार किसी में सुनने की आसक्ति, किसी में सूंघने की आसक्ति और किसी में स्पर्श की आसक्ति होती है। इन सबके लिये अलग-अलग साधना-सूत्र हैं। किसी में एक बात की विशेषता होती है तो दूसरी बात की कमजोरी। किसी में एक प्रकार की कमजोरी होती है तो दूसरे प्रकार की विशेषता। जब मूर्च्छा के चक्र को तोड़कर जागरूकता की दिशा मे जाना होता है तब अपनी कमजोरी को स्पष्ट समझना होता है और उनसे मुक्त होने का दृढ़ निश्चय करना होता है। दृढ़ निश्चय होने के पश्चात् वह कभी विचलित नहीं होता।

राजा बहुत दानी था। वह काव्य का रसिक था। कोई भी पंडित आता, काव्यपाठ करता, राजा उसे पुष्कल पुरस्कार देता। मंत्री ने सोचा, यदि यही क्रम रहा तो खजाना खाली हो जाएगा। उसने उपाय सोचा। राजसभा के प्रवेश-द्वार पर उसने एक वाक्य लिख दिया—"आपदर्थं धनं

रक्षेत्"—आपदाओं से बचने के लिये धन की रक्षा करनी चाहिए। राजसभा में प्रवेश करते समय राजा की दृष्टि उस वाक्य पर पड़ी। राजा ने वाक्य की पृष्ठभूमि समझ ली। राजा ने उस पंक्ति के नीचे दूसरी पंक्ति लिख दी—"महतामापदः कुतः"—महान् व्यक्तियों को आपदाएं छू नहीं सकती। मंत्री ने देखा, सोचा, बात बनी नहीं। उसने तीसरी पंक्ति लिखी, "कदाचित् कुपितो दैवः". कभी भाग्य-देवता कुपित हो सकता है और महान् व्यक्ति भी आपदाओं में फंस सकता है। दूसरे दिन राजा की दृष्टि इन तीन पंक्तियों पर पड़ी और उसने चौथी पंक्ति, चौथा चरण लिखा—"संचितं चापि नश्यति"—ऐसी स्थिति में जो धन का संचय किया है, वह भी नष्ट हो जाता है।

मंत्री ने पढ़ा और यह जान लिया कि राजा अपने निश्चय पर दृढ़ है। उसे विचलित कर पाना कठिन है।

जिसकी धृति प्रबल होती है, मनोबल मजबूत होता है, वह कभी विचलित नहीं हो सकता।

साधना करने वाला व्यक्ति एक निश्चय के साथ साधना में पहला चरण रखता है कि मुझे जागरूक बनना है। सबसे पहले उसे जागरूकता में आने वाले सारे विघ्नों को समाप्त करना होता है।

जागरूकता का पहला विघ्न है—चंचलता। वाणी की चंचलता, दृष्टि की चंचलता, हाथ-पैर की चंचलता—यह सारी चलती रहती है। हम चंचलता की बीमारी को समझें, सचाई को स्वीकार करें फिर उसका उचित उपचार करें। चंचलता को समझना, उसका उपचार करना और आलंबनों का अभ्यास करना, यह जागरूकता का पहला लक्षण है।

जागरूकता का अर्थ है—यथार्थ का स्वीकार।

जागरूकता : देखने का अभ्यास

जो कुछ सामने आता है, दिखाई देता है। देखने का अभ्यास करने की जरूरत नहीं होती। बच्चा जन्म लेता है। थोड़ी देर बाद वह आंखें खोलता है, देखना प्रारंभ कर देता है। देखने का अभ्यास हमारा जन्मगत है। प्रश्न होता है तो फिर देखने का अभ्यास क्यों? अभ्यास उसका किया जाता है जो अनभ्यस्त है। किन्तु जिसका अभ्यास है, उसके पुनः अभ्यास की क्या अपेक्षा है? इस स्थिति में हमें देखने के मर्म को पकड़ना है।

हम केवल आंखों से ही नहीं देखते। उनके पीछे एक और देखने वाली शक्ति होती है। वह है प्रियता और अप्रियता की शक्ति। हम किसी आकर्षण, रुचि या प्रियभाव से देखते हैं या अनाकर्षण, अरुचि और अप्रियता से देखते हैं। हम उत्सुकता से देखते हैं या अनुत्सुकता से देखते हैं। हम केवल देखना नहीं जानते। हमें केवल देखने का अभ्यास करना है। हमें यथार्थ को यथार्थ की दृष्टि से देखना है। जो जैसा है उसे उसी दृष्टि से देखने का अभ्यास करना, यह जागरूकता का अभ्यास है। जो केवल देखना नहीं जानता, वह जागरूक नहीं हो सकता। जो जागरूक होता है वह केवल देखेगा। देखने के पीछे जो प्रवाह है, वह उसको काट देगा। केवल देखेगा, एक को देखेगा।

मनुष्य का जीवन सामुदायिक है। यह एक बड़ी समस्या है। समाज को छोड़कर कोई व्यक्ति जी नहीं सकता। साधक या साधु भी समाज को छोड़कर जी नहीं सकता। उसे खाने को भोजन चाहिए, रहने को मकान चाहिए, पहनने को वस्त्र चाहिए, औषधि चाहिए। और-और भी अनेक वस्तुएं चाहिए। ये सभी चीजें समाज से प्राप्त होती हैं। कोई जंगल में जाकर बैठ जाए या हिमालय की कंदरा में जाकर बैठ जाये, वहां भी उसे फल-फूलों की आवश्यकता होती है। पानी भी चाहिए। ये सब चीजें सामाजिक हैं। किसी एक व्यक्ति के अधिकृत नहीं हैं। जीने का अर्थ है— समाज के साथ जीना, समाज के वातावरण में जीना, समाज की संपदा का उपयोग करते हुए जीना। क्या हिमालय किसी समाज से अलग है? उस पर

साधना का सूत्र है । सभी विसंगतियों और द्वन्द्वों का यह महत्त्वपूर्ण समाधान है ।

प्रश्न होता है कि समाज और समूह में रहते हुए भी अकेले कैसे रहा जा सकता है ? इसका समाधान है देखने का अभ्यास । इसका तात्पर्य है—अपनी एकता का अनुभव । हमारा संबंध जुड़ता है माध्यमों से । पहला माध्यम है शरीर, दूसरा है परिवार और तीसरा है वैभव । ये तीन माध्यम हैं, जिनसे हमारा विस्तार होता है ।

आदमी अकेला हो नहीं सकता । उसके साथ शरीर है, मस्तिष्क है । वे निरंतर उसका साथ देते हैं, तब अकेले होने की बात प्राप्त नहीं होती । एक आदमी हिमालय की कन्दरा मे जाकर बैठ गया । अकेला है । पर क्या वह भारत के सत्तर करोड़ आदमियों के विचार-संक्रमण से बच पाएगा ? विचार सारे आकाश-मंडल में छा जाते हैं । हिमालय की कन्दरा भी उनसे नहीं बचती । वहां बैठा आदमी भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । आज अणु-विस्फोट अमेरिका और रूस में होता है, किन्तु उसका परिणाम कौन नही भोगता ? क्या भारत का मनुष्य उसके परिणामों से बच पाएगा ? हिमालय की कन्दरा भी क्या अणुधूलि से बच पाएगी ? विश्व का कोई भी भाग अणुधूलि से बचा हुआ नही है । संक्रमण का जगत् है । क्रिया एक स्थान पर होती है और उसकी प्रतिक्रिया सर्वत्र फैल जाती है ।

साधना का अर्थ है—दृष्टि का परिवर्तन, देखने का अभ्यास । हम देखना सीखें । देखने में मुख्यतः दो दृष्टियां बनती हैं । एक किसान खेत में बीज बोने जा रहा था । उसे मार्ग मे एक साधु मिला । उसको देखते ही किसान घबरा गया । सोचा । अरे अपशकुन हो गया ! वह बड़बड़ाया—सिर बड़ा है, पर केश एक भी नहीं है । इसका मतलब है इस बार कड़बी होगी, सिट्टे भी होंगे, पर उनमें दाना नहीं पड़ेगा । वह निराश हो गया ।

साधु कुछ आगे बढ़ा । एक दूसरा किसान भी खेत की [illegible] के लिये घर से निकला था । साधु को [illegible] देखकर [illegible] हो उठा । वह बोल पड़ा—अरे ! अ[illegible] शकुन [illegible] बार लगता है कि इसके सिर जितने [illegible], जो [illegible] भरे

के अनुसार आया। पहले किसान के खेत में कड़वी हुई, दाना एक भी नहीं मिला। दूसरे किसान का खेत धान से लहलहा उठा। एक ही घटना से अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक ही शब्द के पचासों अर्थ हो सकते हैं।

हमारा दृष्टिकोण ऐसा बने कि हम यथार्थ को पकड़ सकें। साधना के परिणाम के बाद ही यह पूर्ण घटित होता है, पर प्रारंभ से ही इस ओर गति होनी चाहिए। आदमी पहले ही उलझ जाता है।

समाज के साथ रहते हुए भी अकेला जीना—यह सूत्र उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जो निश्चय और व्यवहार—दोनो दृष्टियों से सोचता है, देखता है। यह सही है कि सामुदायिक जीवन जीने वाला व्यक्ति अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। उसे कभी उच्च अवस्था और कभी अवच अवस्था से गुजरना होता है। अनेक प्रकार के व्यक्ति, अनेक प्रकार की रुचियां, अनेक प्रकार के आचरण और व्यवहार—इन सबसे उसका सम्पर्क होता है। इस स्थिति में अपना संतुलन बनाए रखना, एक महत्त्वपूर्ण बात है।

गुरजिएफ ने अकेले रहने का प्रयोग समूह में रहकर ही किया। महावीर ने भी अन्यत्व और एकत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग समूह में रहकर ही किए। गोशालक ने महावीर पर आरोप लगाते हुए कहा—पहले महावीर अकेले थे, संन्यासी थे, तपस्वी थे। अब वे समुदाय मे रहते हैं, ठाट-बाट से रहते हैं। पहले वे तपस्या करते थे, अब वे प्रतिदिन खाते हैं। और भी कई आरोप थे। महावीर को इनसे लेना-देना कुछ भी नही था। साधना के आदिकाल में भोजन विशेष प्रकार का संयम का प्रतीक होता है। साधना के पक जाने के पश्चात् साधक क्या खाता है क्या नही खाता, कोई प्रश्न नहीं रहता।

देखने की अनेक दृष्टियां होती हैं। साधक किसी को हीनता की दृष्टि से नही देखे। यह न समझे कि दूसरे सारे मूर्च्छा में जी रहे हैं। मैं साधना करता हूं, जागरूकता में जीता हूं। ऐसा सोचना भी पूरा सही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में मूर्च्छा भी होती है और जागरूकता भी होती है। जो साधना कर रहा है वह मूर्च्छा से पूरा मुक्त हो गया है, ऐसी बात नहीं है। जब तक वीतरागता का चरम विन्दु प्राप्त नहीं हो जाता तब तक प्रत्येक व्यक्ति में मूर्च्छा रहती है, प्रमाद रहता है। अप्रमत्त अवस्था आएगी तो वीतरागता तत्काल आ जाएगी। वीतरागता प्राप्त होने पर ही व्यक्ति मूर्च्छा

से मुक्त होता है। जिसमें मूर्च्छा कम होगी, वह घटनाओं से कम प्रभावित होगा।

मंत्री मुनि हमारे संघ के विशिष्ट मुनि थे। वे अत्यन्त गंभीर और गहरे थे। वे प्रत्येक बात को सुनते, जानते, पर प्रभावित नहीं होते, न उसकी प्रतिक्रिया करते, न किसी को कहते। कोई व्यक्ति पूछता तो वे एक दोहा कहते—

"आंखो देखना कानों सुनना, मुंह से कछु न कहना ॥
गोरख कहे रे चेलका, जग में इणविध रहना।"

आगम का एक प्रसंग है। एक मुनि विहार कर रहे थे। चलते चलते जंगल आ गया। वहां पूरा एकान्त था। एकान्त में साधना भी हो सकती है और एकान्त में बुरा कर्म भी हो सकता है। एकान्त अच्छा भी नहीं होता, बुरा भी नहीं होता है। मुनि ने देखा, एक युवक किसी युवती के साथ दुराचार का सेवन कर रहा है। मुनि ने दृष्टि फिरा ली और आगे कदम बढ़ा दिए। उस युवक ने सोचा, मुनि ने मुझे दुराचार करते देख लिया है। यह गांव में जाकर मुझे बदनाम करेगा। अच्छा हो कि यहीं उसका काम तमाम कर दूं। युवक भाग कर रास्ते के बीच खड़ा हो गया, जहां से मुनि को गुजरना था। मुनि आये। युवक ने पूछा, अभी रास्ते में तुमने क्या-क्या देखा? बताओ। मुनि मौन थे। युवक ने उत्तेजित होकर कहा—सच सच बताओ, अन्यथा मौत के घाट उतार दूंगा। साधु ने कहा—

"बहु सुणेहि कण्णेहिं बहु अच्छीहि पेच्छई।
न य दिट्ठं सुअं सव्वं, भिक्खु अक्खाउ मरिहइ।"

भद्र! साधु अनेक बातें सुनता है, अनेक दृश्य देखता है, किन्तु वह साधक सारी सुनी हुई और देखी हुई बातें किसी से नहीं कहता। वह अपने में मस्त रहता है।

युवक निश्चिन्त हो गया। साधु को मुक्त कर दिया। जो व्यक्ति समुदाय में जीता है, उसके समक्ष अनेक घटनाएं आती हैं। यदि वह उन सबसे प्रभावित होता है तो इसका अर्थ है कि वह अकेला नहीं, दो है। अकेले होने का तात्पर्य है, सचाई को जानना, स्वयं अलिप्त रहना और विमर्श करना। विमर्श करना बुरा नहीं है। विमर्श स्वयं एक दीपक बन जाता है।

समुद्रपाल वातायन में बैठा था। आरक्षी लोग एक व्यक्ति को घसीटते हुए ले जा रहे थे। उसके हाथों में हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां

थीं। उसको लालवस्त्र पहनाए गए थे। गले में कणेर के लालफूलों की माल थी। समुद्रपाल को बताया गया कि यह अन्यायी है, चोर है, इसे सूली प चढ़ाने के लिये वधस्थान की ओर ले जाया जा रहा है। समुद्रपाल ने सुन विमर्श हुआ और यह तथ्य उभर कर सामने आया कि अशुभ का फल यह भी भोगना पड़ता है और मरकर भी भोगना पड़ता है। भावों की विमुि हुई और उसे मार्ग मिल गया।

साधक का कार्य है कि वह दुर्बल व्यक्ति के प्रति घृणा न करे दुर्बलताओं से बोधपाठ लेना आवश्यक है, पर घृणा करना उचित नहीं है आर्द्रकुमार भगवान् महावीर के पास जा रहा था। मार्ग में अनेक धर्मों आचार्य मिले। किसी ने कह दिया—तुम दूसरों की निन्दा करते हो आर्द्रकुमार ने कहा—मैं दृष्टिकोण की गर्हा करता हूं, किसी व्यक्ति-विशेष की गर्हा नहीं करता। जो मिथ्या दृष्टिकोण है उसकी निन्दा करता हूं, मिथ्यात्व की निन्दा नही करता। महात्मा गांधी भी कहते थे, पाप से घृणा करो, पापी से नही। सारी घटनाओं का हम आकलन अवश्य करें, यह सोचें कि कर्म का विपाक कितना विचित्र होता है। कर्म के विपाक के कारण जगत् में सारी विचित्रताएं है, नानात्व है, भेद है। विपाक का चिन्तन कर सही मार्ग को देखना, अपने आपको संभालना यह ऋजु मार्ग है। जब यह दृष्टिकोण विकसित होता है तब देखने का अभ्यास होता है।

जागरूकता का अर्थ है—देखने का अभ्यास। सचाई को दोनों दृष्टियों से—व्यवहार दृष्टि से तथा निश्चयदृष्टि से देखना। दोनों की भूमिकाओं को अलग-अलग समझना। व्यवहार को निभाते हुए, व्यवहार की भूमिका पर चलते हुए निश्चय की भूमिका पर जाएं और निश्चय में जो अपने भीतर अपना अकेलापन छिपा हुआ है, उसका अनुभव करें, निजी वैयक्तिकता का अनुभव करें। यदि ऐसा होता है तो जागरूकता बढ़ती है। जागना बहुत बड़ी अपेक्षा है, कला है, साधना है। पर बहुत कम व्यक्ति इस दिशा में प्रस्थान कर पाते हैं। लोग मूर्च्छा में रहना अधिक पसन्द करते हैं। उन्हें जगाना अत्यन्त कठिन होता है। इस स्थिति में सचाई बहुत कम सामने आती है। व्यक्ति में कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की भेदरेखा नहीं रहती। नींद मूर्च्छा है, जागना अमूर्च्छा है। जागने के लिए दोनों सचाइयों को समझना बहुत जरूरी है। व्यवहारनय को व्यवहार की भूमिका पर समझना और निश्चयनय को निश्चय की भूमिका पर समझना जरूरी है। ऐसा होने पर ही साधना का जीवन पूरे समाज के लिये वरदान बन सकता है। समाज उससे लाभान्वित हो सकता है।

जागरूकता : संतुलन की प्रक्रिया

देखते सब हैं, पर सब देखना नहीं जानते। देखना वही जानता है जिसके पीछे चित्त की निर्मलता होती है। जिसके पीछे राग-द्वेष की धाराएं प्रवहमान होती हैं, वह देखना नहीं जानता। वह देखना नहीं जानता, इसीलिये वह असंतुलित रहता है।

आदमी सबसे पहले अपने शरीर को देखता है। शरीर को देखना भी एक कला है। शीशे में शरीर का प्रतिबिम्ब देखना कोई कला नहीं है। आंखें मूंदकर शरीर को देखना बहुत बड़ी कला है, साधना है। शरीर को देखकर आदमी विकारग्रस्त भी हो सकता है और शरीर को देखकर वह वीतराग भी बन सकता है। देखने-देखने में बड़ा अन्तर है।

सनत्कुमार को अपने सौन्दर्य पर गर्व था। एक बूढ़ा ब्राह्मण आया। प्रहरी ने उसे रोका। उसने सम्राट् को देखने की तीव्र अभिलाषा व्यक्त की। प्रहरी ने उसे भीतर पहुंचा दिया। सम्राट् को देखकर उसकी आंखें चुंधिया गईं। सौन्दर्य से वह अभिभूत हो गया। सम्राट् ने पूछा—कहां से आए हो? आने का प्रयोजन बताओ। ब्राह्मण बोला—क्या बताऊं कहां से आया हूं? मैं जब चला तब जवान था और चलते-चलते बूढ़ा हो गया हूं। अब आप अनुमान कर लें कि मैं कितनी दूरी से आया हूं। मैंने आपके रूप-सौन्दर्य की बहुत प्रशंसा सुनी। आपका रूप देखने आया हूं। सम्राट् ने सुना। सम्राट् का अहंकार बोल उठा—अभी क्या देखते हो? जब मैं राजसभा में आऊं तब देखना। सम्राट् ने विशेष तैयारी की। राजसभा में आया। बूढ़े को बुला भेजा। बूढ़े ने सम्राट् को देखते ही मुंह सिकोड़ लिया। सम्राट् ने पूछा—'कैसा लगा मेरा रूप? बूढ़ा बोला—प्रातःकाल में जो सौन्दर्य था, वह अब नहीं रहा। आपका सौन्दर्य नष्ट हो गया। शरीर अनेक रोगों से आक्रान्त हो चुका है।' सम्राट् आश्चर्यचकित रह गया। उसे भान हुआ कि वास्तव में वह अनेक रोगों से आक्रान्त है।

शरीर, रूप और सौन्दर्य अहंकार के कारण बनते हैं। जब आदमी देखना नहीं जानता तब शरीर अहंभाव का कारण बनता है, हीनभाव का

कारण बनता है। जो देखना जानता है उसके लिये ये न अहं के कारण बनते हैं और न हीनभाव के कारण बनते हैं।

सुकरात शीशे में देख रहा था। सामने शिष्य बैठा था। वह हंस पड़ा। सुकरात ने कहा—'मैं जानता हूं तुम क्यों हंस पड़े ? मैं कुरूप हूं फिर भी शीशे में देख रहा हूं, यह तुम्हारी हंसी का कारण है। परन्तु मेरे शीशे में देखने का दूसरा प्रयोजन है जो तुम नहीं जानते। मैं जानता हूं कि मैं सुन्दर नहीं हूं, कुरूप हूं। मैं चाहता हूं कि बाहर में जो कुरूपता है वह भीतर में कहीं रह न जाए। मैं भीतर की कुरूपता को मिटाने के लिये शीशे में देख रहा हूं।'

जो व्यक्ति देखना जानता है वह अपनी कुरूपता के कारण कभी हीनभावना से ग्रस्त नहीं होता। जो देखना नहीं जानते वैसे युवक-युवतियां अपनी कुरूपता को देखकर हीनभावना से इतने ग्रस्त हो जाते हैं कि वे जीवन रस को ही समाप्त कर देते हैं। वे माता-पिता और भाग्य को कोसते हैं, दुःख पाते हैं। जो व्यक्ति भीतर के सौन्दर्य को प्रगट कर सकता है, उसके बाह्य असौन्दर्य का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता।

जो व्यक्ति भीतर में सुन्दर है, वही वास्तव में सुन्दर है। बाहर के सौन्दर्य या भद्दापन का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। महात्मा गांधी, सुकरात, आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमज्जयाचार्य आदि में बाह्य सौन्दर्य नहीं था, किन्तु उनका आन्तरिक सौन्दर्य इतना गहरा था कि आज भी उनका व्यक्तित्व सबको मुग्ध किए हुए है। हजारों-लाखों व्यक्ति उनके चरणों के अनुयायी हैं। अनेक सेनापति ऐसे हुए हैं, जिनका बाह्य व्यक्तित्व नगण्य था किन्तु उनका आन्तरिक व्यक्तित्व शौर्यपूर्ण था और उन्होंने वह चमत्कार दिखाया जो सुन्दर सेनापति नहीं दिखा सके। उनके पराक्रम और बुद्धिमत्ता की कथाएं आज भी रुचि से कही जाती हैं।

सुन्दर वह होता है जिसका अन्तःकरण सुन्दर होता है। अन्तःकरण का सौन्दर्य चित्त की निर्मलता पर आधारित है। जिसकी आत्मा निर्मल होती है, वह होता है सुन्दर। अहंभाव और हीनभाव से वही ग्रस्त होता है जिसे आन्तरिक सौन्दर्य का बोध नहीं है।

जिस व्यक्ति ने देखना सीख लिया, वह अहंकार से बच जाता है। सम्राट् सनत्कुमार ने देखना नहीं जाना तो वे रूप के अहंकार से ग्रस्त हो गए। अहं की तीव्र परिणति ने उनके शरीर में सोलह भयंकर रोग पैदा कर

दिए। शरीर में कीड़े पड़ गए। बोध हुआ और वे राज्य का परित्याग कर मुनि बन गए। उन्होंने अपने आपको देखा और द्रष्टा बन गए, दार्शनिक बन गये। वस्तुतः दार्शनिक वह होता है, जो स्वयं को देखता है, जो द्रष्टा है। जो केवल तत्त्वों का विश्लेषण करता है, पदार्थ जगत् को जानता है, वह तार्किक हो सकता है, दार्शनिक नहीं। दार्शनिक वही होता है जो तपता है, खपता है और आत्मद्रष्टा बनता है।

मुनि रोगग्रस्त हैं। वैद्य आकर बोला, मेरे पास अचूक दवा है। सारे रोग एक साथ मिट जाएंगे। मुनि ने कहा—मुझे रोगों का भान है। पर मैं उनकी चिकित्सा करना नहीं चाहता। तुम जो दवा देना चाहते हो उससे भी अचूक दवा है मेरे पास। मैं चाहूं तो एक क्षण में नीरोग हो सकता हूं। वैद्य ने आश्चर्य के साथ सुना और विस्मित नयनों से देखा कि मुनि ने अपने थूक का छींटा दिया शरीर पर और जो शरीर गलित कुष्ठ से पीड़ित था, वह स्वर्णमय बन गया।

यह वही वैद्य था जो पहले बूढ़े ब्राह्मण के रूप में आया था। यह मुनि वही चक्रवर्ती सनत्कुमार था और बीमार बना था रूप के अहंकार के कारण। अब बीमारी को मिटाने की क्षमता प्राप्त कर ली है चित्त की निर्मलता के कारण। उस समय चक्रवर्ती ने शरीर को देखा अहंकार के साथ, अहंकार की काली छाया में और आज देख रहा है चित्त की निर्मल धारा में। देखने-देखने में कितना बड़ा अन्तर आ गया!

का सारा संघर्ष काले-गोरे का संघर्ष है अथवा देखना न जानने का संघर्ष है। किंग लूथर की हत्या कर दी गई, क्योंकि वह काला था, भले ही फिर वह अहिंसावादी ही क्यों न रहा हो! जाति का मद, वैभव का मद, रूप का मद—यह सब देखना न जानने का परिणाम है। इससे अहंकार और घृणा पनपती है। सारा सामुदायिक व्यवहार लड़खड़ा जाता है।

विद्या, धन, परिवार, वैभव—ये सब मद अहंकार के कारण हैं। मद का अर्थ है अहंकार। इसको हम उलटकर पढ़ें तो 'मद' 'दम' हो जायेगा। जिसने देखना सीख लिया उसके लिये विद्या, धन, वैभव आदि 'दम' बन जाएंगे, शान्ति के साधन बन जाएंगे।

स्थानांग सूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं—जो आत्मवान् होता है, उसके लिये ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य आदि साधना के निमित्त बनते हैं, कल्याण के पूरक बनते हैं। जो व्यक्ति आत्मज्ञ नहीं है, आत्मवान् नहीं है, उसके लिये ये सब अकल्याण के निमित्त बनते हैं, अभद्र के निमित्त बनते हैं। चीज में कोई अन्तर नहीं है। **'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा।'** द्रष्टा के लिये आस्रव भी संवर बन जाता है और अद्रष्टा के लिये संवर भी आस्रव बन जाता है। एक द्रष्टा साधक है। उसके पास विपुल शिष्य-परिवार है। वह साधक के अहंकार का निमित्त नहीं बनता। वह साधक सोचता है, मैंने इतने शिष्यों को दीक्षित किया है तो मेरा पूर्ण दायित्व है कि मैं इनके साथ न्याय करूं, इनके कल्याण में हेतुभूत बनूं, इनके विकास का निमित्त बनूं। साधक अधिक जागरूक बनता है। जो द्रष्टा नहीं होता और विपुल शिष्य परिवार का स्वामी हो जाता है तो वह अपने दायित्व के प्रति कभी जागरूक नहीं होता, शिष्यों के कल्याण का हेतुभूत नहीं बनता।

एक साधक जिसने देखना सीखा है, जो द्रष्टा बनने की ओर अग्रसर है, वह सोचेगा, मैं लोगों से पूजा और श्लाघा पा रहा हूं, श्रद्धा पा रहा हूं। मुझे निरंतर सतर्क रहना है। पूजा को पचाना बड़ा कठिन है। श्रद्धा को पचाना कठिन होता है। उसे पचाने के लिये गहरी आंच चाहिए। यह सोचकर वह साधक गहरी साधना में चला जाता है। यह है द्रष्टा का मार्ग। जिसने देखना नहीं सीखा, वह सोचता है, पूजा और श्रद्धा तो मिल ही रही है, फिर क्यों कठोर जीवन जीया जाए? क्यों कष्ट सहा जाए? वह अंधकार में भर जाता है। मार्गच्युत हो जाता है।

स्थानांग सूत्र का यह कथन बहुत मार्मिक और अर्थप्रद है कि आत्म-

न् के लिये श्लाघा, पूजा और प्रतिष्ठा साधना में हेतुभूत बनते हैं; सह
ागी बनते हैं और अनात्मवान् के लिये ये सब साधना में बाधक बनते हैं।

इससे फलित यह निकलता है कि पदार्थ पदार्थ है। पदार्थ का होना
रिवार और समुदाय का होना अपने आप में न अच्छा है और न बुरा है
ह तो पदार्थ मात्र है। द्रष्टा के लिये ये साधक बनते है और अद्रष्टा के लि
ाधक। साधकता और बाधकता का आधार है देखने की क्षमता।

जिसने देखना सीख लिया वह आदि-बिन्दु को भी देखेगा और अन्तिम
न्दु को भी देखेगा। जिसने देखना नहीं सीखा, वह आदि-बिन्दु को देखेगा
न्तिम बिन्दु को भुला देगा।

एक सेठ ने बड़ा मकान बनाया। उसमें अलग-अलग व्यवस्थाएं रखीं।
ठ ने जी खोलकर पैसा लगाया। मकान बहुत सुन्दर और भव्य बना। भवन
ो देखकर सेठ का मन अत्यन्त प्रमुदित हुआ। इस प्रमोदभाव ने उसमें
हंकार भर दिया। वह सबके समक्ष अपने भवन की अति प्रशंसा करने
गा। सुनने और देखने वाले सभी भवन के भव्य निर्माण पर विस्मित थे।
क दिन एक संन्यासी आया। सेठ आदरपूर्वक उसे भवन में ले गया। घूम-
मकर सारा भवन संन्यासी को दिखाया और पूछा—महाराज! यह छोटा-
ा मकान आपको कैसा लगा? संन्यासी ने सेठ के अहंभाव को पढ़ लिया।
स्कराते हुए संन्यासी बोला—सेठजी! मकान सुन्दर है। पर इसमें एक कमी
ह गई है। यह सुनते ही सेठ चौंका। पूछा, महाराज! क्या कमी है?
न्यासी ने कहा—एक दिन यह मिट जाएगा, नष्ट हो जाएगा। सेठ ने सुना,
सका सारा अहंकार विलीन हो गया। दृष्टि बदल गई।

महल में रहने वाला अहंकार से भरा है। झोपड़ी में रहने वाला
ीनभावना से पूर्ण है। महलवाला झोपड़ी वाले को हीनभावना से देखता है।
र जो द्रष्टा होता है उसके मन में महल के प्रति न अहंभाव होगा और
ोपड़ी के प्रति हीनभावना होगी। क्योंकि वह जानता है एक दिन महल भी
ह जाएगा, एक दिन झोंपड़ी भी ढह जाएगी।

संतुलन तब आता है जब आदमी देखना सीख जाता है, अहंकार और
ीनता से मुक्त होता है। हीनता और अहंकार—ये दोनों असंतुलन पैदा

जागरूकता : दिशा-परिवर्तन

आमेट से चले और राजसमंद पहुंच गए। जब चले तब राजसमंद की ओर मुंह था और आमेट की ओर पीठ थी। हम चलते चले। राजसमंद निकट होता गया और आमेट दूर होता गया।

दूर और निकट कौन होता है? जिसकी तरफ मुंह होता है, वह निकट होता है और जिसकी तरफ पीठ होती है वह दूर होता है। प्रश्न होता है अभिमुखता का। हमारी अभिमुखता किस ओर है? हमारा मुख सुख-शांतिमय जीवन की ओर है या समस्याओं से संकुल जीवन की ओर है? बस, यही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि हमारी अभिमुखता सुलझाने की ओर है तो जीवन की दिशा बदल सकती है। यदि हमारी अभिमुखता उलझाने की ओर है तो समस्या का जाल अनन्त बनता चला जाएगा। उसका कहीं अंत नहीं आएगा।

प्रश्न जीवन से पलायन करने का नहीं है। पलायन कर कहां जाएंगे? संसार से बाहर तो जा नहीं पाएंगे। इस जीवन में रहें या अगले जीवन में, भारत में रहें या अन्य किसी देश में, कहीं-न-कहीं आदमी को टिकना होता है। दिशा-परिवर्तन का अर्थ पलायन नहीं है। यह तो केवल अभिमुखता का परिवर्तन है।

हम छाया को पकड़ने के लिए भाग रहे हैं। हमारी अभिमुखता छाया की ओर है, यथार्थ की ओर नहीं है। हमारी अभिमुखता प्रतिबिम्ब की ओर है, बिम्ब की ओर नहीं है। शीशे में दिखाई देने वाला प्रतिबिम्ब है, बिम्ब नहीं है। प्रतिबिम्ब और छाया के आधार पर चलना उलझनों को बढ़ाना है।

मैं एक कमरे में बैठा था। वहां एक कांच टंगा हुआ था। वहां एक चिड़िया आई। कांच पर बैठ कर चोंच मारने लगी। मैंने एक बार कविता भी लिखी थी। उसकी पहली पंक्ति थी—'चिड़िया चोंच मार रही है शीशे पर।' मैं देख रहा था चिड़िया को। वह अत्यन्त व्यग्र और परेशान थी। व सोच रही थी कि भीतर की चिड़िया को चोंच मार-मार कर परास्त कर दू

वह शक्ति लगा रही थी। वह बेचारी समझ ही नहीं पा रही थी कि भीतर में दिखाई देने वाली चिड़िया कोई दूसरी नहीं, वह स्वयं ही है। भ्रम गहरा था। वह चोंच मार रही थी। चोंच घायल हो रही थी।

चिड़िया ही नहीं, प्रत्येक आदमी शीशे के सामने बैठा है। वह अपना प्रतिबिंब देख रहा है उससे लड़ रहा है। यह अनन्त अतीत से चला आ रहा है। पर वह अभी तक समझ नहीं पाया है कि वह किससे लड़ रहा है। चिड़िया को भी कुछ ज्ञात नहीं है। उसे पता नहीं है कि भीतर कोई नहीं है। जो दिखाई दे रहा है, वह उसी का प्रतिबिंब है। आदमी भी छाया का जीवन जी रहा है, प्रतिबिंब का जीवन जी रहा है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—"अन्नहाण पासहे परिहरेज्जा"—द्रष्टा अन्यथा परिहरण करे अर्थात् पदार्थ का भोग भी अन्यथा प्रकार से करे। जैसे अद्रष्टा पदार्थ का उपभोग करता है वैसे द्रष्टा नहीं करता, अन्यथा प्रकार से करता है। वह प्रतिबिंब का जीवन नहीं जीता, बिंब का जीवन जीता है।

रात का समय। चांद उग चुका था। आदमी जा रहा था। उसकी छाया आगे की ओर पड़ रही थी। छाया को देखकर उसने सोचा कि आगे-आगे कोई चल रहा है। वह उसे पकड़ने दौड़ा। छाया आगे सरक गई। वह और अधिक भय से परेशान हो गया। वह ठहरा तो छाया भी ठहर गई। वह सिकुड़ा तो छाया भी सिकुड़ गई।

आदमी अपनी ही छाया से डर रहा है। वह अपने ही प्रतिबिंब से भय खा रहा है। भय इसलिए है कि वह नहीं जानता कि यह उसी की छाया है, प्रतिबिंब है।

भगवान् ने कहा—जिसने देखना सीख लिया, जागरूकता की साधना की है, "अण्णहा परिहरे" को जीवनगत किया है वह पदार्थों का भोग भी करता है, पर वैसे नहीं करता, जैसे अद्रष्टा करता है। खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, चलना, फिरना—वह अन्यथा करेगा, अलग प्रकार से करेगा। उदाहरण के लिए, जो अद्रष्टा होता है उसके सामने दृष्टिकोण होता है—स्वाद और प्रियता का। इसलिए वह मनोज्ञ वस्तु अधिक खाएगा और अमनोज्ञ वस्तु को फेंक देगा। द्रष्टा का दृष्टिकोण होता है—उपयोगिता और आवश्यकता का। वह प्रत्येक वस्तु का भोग उपयोगिता और आवश्यकता के आधार पर करेगा। दोनों के आचरण और व्यवहार में बहुत बड़ा अंतर होता है।

व्यवहार और आचरण का बदलना ही है—दिशा-परिवर्तन। जब तक व्यवहार और आचरण नहीं बदलता तब तक दिशा का परिवर्तन नहीं होता। इसलिये दिशा-परिवर्तन का अर्थ है—व्यवहार-परिवर्तन और व्यवहार-परिवर्तन का अर्थ है दिशा-परिवर्तन।

द्रष्टा कौन होता है, यथार्थ में कौन देखता है, इस प्रश्न का उत्तर है—

"मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति ॥"

जो व्यक्ति परस्त्री को माता की भांति, दूसरे के धन को कंकड़-पत्थर की भांति, सभी प्राणियों को अपने तुल्य देखता है, वही द्रष्टा है, वही वास्तव में देखता है। जो ऐसा नहीं देखता, वह देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता, आंख होने पर भी अंधा है। कुछ आंख वाले अंधे होते हैं और कुछ बिना आंख वाले द्रष्टा होते हैं। ऐसे साधक हुए हैं, जिनके चर्मचक्षु नहीं थे, पर वे द्रष्टा बन गए। लाखों-करोड़ों लोग ऐसे हैं, जिन्हें आंखें प्राप्त हैं, पर वे देखना नहीं जानते इसलिए अन्धे हैं।

प्रश्न होता है कि क्या "मातृवत् परदारेषु" यह संभव है? यह संभव-असंभव दोनों है। जिसके जीवन की दिशा बदल गई, उसके लिए संभव है और जिसके जीवन की दिशा नहीं बदली, उसके लिए असंभव है।

बच्चा मां का स्तनपान करता है। कोई विकार नहीं, कोई प्रदूषण नहीं, कोई दृष्टि का दोष नहीं। वह जो करता है वह सहज होता है। सरस्वती और काली का भक्त उनकी आराधना करता है। उसके मन में कोई विकार नहीं आता। श्रद्धा जागती है।

दिगम्बर प्रतिमाएं और मुनि नग्न रहते हैं। स्त्रियां उनकी भक्ति करती हैं, चरण-स्पर्श करती हैं, पूजा करती हैं। क्या उनके मन में कोई विकार जागता है? नहीं। शरीर के जो अवयव विकार के निमित्त बनते हैं वे ही अवयव विकार-शांति के निमित्त बन जाते हैं। यह है दिशा-परिवर्तन। यदि अभिमुखता कामना की ओर होगी तो वे अवयव विकार पैदा करेंगे और यदि अभिमुखता आराधना की ओर होगी तो वे अवयव शमन का कार्य करेंगे।

वस्तु न विकार लाती है और न विकार मिटाती है। यह सारा हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर है। यह सारा हमारी अभिमुखता पर आधृत है। हमारी दृष्टि कहां है? हमारी दिशा कौन-सी है? हम थोड़ा-सा मोड़ दें।

मुंह जो इधर है, उसे उधर कर दें। सारा परिवर्तन घटित हो जाएगा।

आचरण की बात द्वय है। पहली बात है सम्यग्दर्शन की। यह देखो कि सम्यग्दर्शन प्राप्त है या नहीं ? यदि दृष्टि सम्यग् है तो चरित्र—आचरण स्वतः सम्यग् हो जाएगा। यदि दृष्टि मिथ्या है तो आचरण सम्यग् होने की आशा मत करो, ज्ञान सही होने की आशा मत करो। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है दर्शन का और दिशा-परिवर्तन का।

"परद्रव्येषु लोष्ठवत्"—क्या यह सम्भव है ? बहुत सम्भव है। जिस व्यक्ति का मुंह लालसा की ओर है, राग की ओर है, उसमें विश्व के समस्त धन को बटोरने की लालसा जागृत होती है। उसे कभी कहीं संतोष नहीं होता। बड़े से बड़ा धनवान भी चोरी करता है, व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है। क्या उसके धन की कमी है? नहीं। पर वह ऐसा आचरण इसलिए करता है कि उसका मुंह लालसा की दिशा में है। यदि दिशा बदल जाए तो गरीब से गरीब आदमी भी परधन को पत्थर समझ कर उसका स्पर्श तक नहीं करता।

एक घटित घटना है। दिल्ली के एक होटल में चार युवक आए। नास्ता-पानी किया और चले गए। होटल मालिक ने देखा कि वे युवक अपना ट्रांजिस्टर वहीं भूल गए हैं। वह उनकी खोज में स्टेशन की ओर दौड़ा। चारों युवक एक डिब्बे में बैठ चुके थे। गाड़ी के रवाना होने में कुछ विलम्ब था। वे आपस में बतिया रहे थे कि देखो, आज हमने उस होटल मालिक को कितना चकमा दिया। बिल आधा चुकाया और आ गए। इतने में ही वह होटल मालिक उनको ढूंढते-ढूंढते वहां पहुंचा और बोला—'आप मेरी होटल पर नास्ता करने आए थे। वहां आप यह ट्रांजिस्टर भूल आए। इसे संभालें।' युवक अवाक् रह गए।

प्रामाणिकता का संबंध न गरीबी से है और न अमीरी से। उसका संबंध है दिशा-परिवर्तन से।

तीसरी बात है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु'। वही व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है, जिसमें दिशा-परिवर्तन घटित हो चुका है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त बहुत विराट् और उदात्त है। पर इसका आचरण उतना उदात्त नहीं रहा, क्योंकि दिशा बदली नहीं। इसीलिये इतने छोटे-छोटे भेद होते गए कि उनका कहीं अन्त नहीं है। दूसरों को छोटा और तुच्छ मानने में बड़ा रस है लोगों में। वे दूसरों को छोटा मानकर अपने बड़प्पन को

पालते हैं और इसी में उन्हें तोष मिलता है।

हम हजार बार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त दोहराएं, कुछ भी आना-जाना नहीं है। यह सार्थक तब होता है, जब दिशा बदलती है।

राजकुमार अरिष्टनेमि विवाह करने के लिये जा रहे थे। रास्ते में पशुओं का करुण क्रन्दन सुना। सारथी से पूछा—'यह करुण चीत्कार कहां से आ रही है ? इतने पशु क्यों एकत्रित किए गए हैं ?' सारथी बोला—'ये पशु बारातियों के लिये भोज्य वस्तु हैं। अरिष्टनेमि ने पूछा—क्या ये मारे जाएंगे ? क्या ये सब मृत्यु के भय से चिल्ला रहे हैं ? सारथी बोला—हां। अरिष्टनेमि ने कहा—सारथी ! रथ को मोड़ दो। अब मैं उधर नहीं जा सकता। रथ का मुंह क्या मोड़ा, अरिष्टनेमि का मुंह मुड़ गया। जा रहे थे विवाह करने के लिये और चल पड़े संन्यास ग्रहण करने के लिये पर्वत की ओर। तत्काल मुनि बन गए।

यह है दिशा-परिवर्तन। जिसकी दिशा बदल जाती है, वह जागरूक बन जाता है। जब तक जीवन की दिशा नहीं बदलती तब तक यह संभव नहीं होता, सब जीवों को अपने समान समझना संभव नहीं होता। अरिष्टनेमि ने समझ लिया था कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही आत्मा है इन सब पशुओं में है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का स्वर अन्तर् आत्मा में इतना मुखर बना कि उन्हें कभी मान्य नहीं हुआ कि मेरे विवाह के लिये हजारों प्राणियों की बलि दी जाए।

जब तक दिशा नहीं बदलती तब तक जागरूकता नहीं आती।

पिता ने पुत्र से कहा—शहर में विद्वान् मुनि आए हैं। उनका प्रवचन सुना करो। चलो, आज मेरे साथ। बेटा बाप के साथ प्रवचन सुनने गया। मुनि ने अद्वैत पर प्रवचन किया और यह स्पष्ट समझाया कि सभी प्राणी समान हैं, आत्माएं समान हैं। पिता ने भी सुना और पुत्र ने भी सुना। पुत्र का ग्रंथि भेद हुआ, दिशा बदल गई। पिता घर गया और पुत्र दूकान पर जा बैठा। किराने की दूकान थी। यत्र-तत्र अनाज के ढेर लगे हुए थे। एक गाय अनाज खाने लगी। पुत्र देखता रहा। इतने मे पिता आ गया। आते ही वह पुत्र पर आग-बबूला हो गया। पुत्र बोला—पिताजी ! आज ही तो मुनि ने बताया था कि सब आत्माएं समान हैं। फिर गाय की आत्मा मे और हमारी आत्मा में अन्तर ही क्या है ? पिता बोला—वह प्रवचन की बात है, व्यवहार की नहीं। यदि तू ऐसा ही करेगा तो दूकान चौपट हो जाएगी, सब जगह एक-

मुंह जो इधर है, उसे उधर कर दें। सारा परिवर्तन घटित हो जाएगा।

आचरण की बात द्वय है। पहली बात है सम्यग्दर्शन की। यह देखो कि सम्यग्दर्शन प्राप्त है या नहीं ? यदि दृष्टि सम्यग् है तो चरित्र—आचरण स्वतः सम्यग् हो जाएगा। यदि दृष्टि मिथ्या है तो आचरण सम्यग् होने की *आशा मत करो, ज्ञान सही होने की आशा मत करो। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है* दर्शन का और दिशा-परिवर्तन का।

"परद्रव्येषु लोष्ठवत्"—क्या यह सम्भव है ? बहुत सम्भव है। जिस व्यक्ति का मुंह लालसा की ओर है, राग की ओर है, उसमें विश्व के समस्त धन को बटोरने की लालसा जागृत होती है। उसे कभी कहीं संतोष नहीं होता। बड़े से बड़ा धनवान भी चोरी करता है, व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है। क्या उसके धन की कमी है? नही। पर वह ऐसा आचरण इसलिए करता है कि उसका मुंह लालसा की दिशा में है। यदि दिशा बदल जाए तो गरीब से गरीब आदमी भी परधन को पत्थर समझ कर उसका स्पर्श तक नहीं करता।

एक घटित घटना है। दिल्ली के एक होटल में चार युवक आए। नास्ता-पानी किया और चले गए। होटल मालिक ने देखा कि वे युवक अपना ट्रांजिस्टर वहीं भूल गए हैं। वह उनकी खोज में स्टेशन की ओर दौड़ा। चारों युवक एक डिब्बे मे बैठ चुके थे। गाड़ी के रवाना होने में कुछ विलम्ब था। वे आपस में बतिया रहे थे कि देखो, आज हमने उस होटल मालिक को कितना चकमा दिया। बिल आधा चुकाया और आ गए। इतने में ही वह होटल मालिक उनको ढूंढते-ढूंढते वहां पहुंचा और बोला—'आप मेरी होटल पर नास्ता करने आए थे। वहां आप यह ट्रांजिस्टर भूल आए। इसे संभालें।' युवक अवाक् रह गए।

प्रामाणिकता का संबंध न गरीबी से है और न अमीरी से। उसका संबंध है दिशा-परिवर्तन से।

तीसरी बात है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु'। वही व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है, जिसमें दिशा-परिवर्तन घटित हो चुका है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त बहुत विराट् और उदात्त है। पर इसका आचरण उतना उदात्त नहीं रहा, क्योंकि दिशा बदली नहीं। इसीलिये इतने छोटे-छोटे भेद होते गए कि उनका कहीं अन्त नहीं है। दूसरों को छोटा और तुच्छ मानने में बड़ा रस है लोगों में। वे दूसरों को छोटा मानकर अपने बड़प्पन को

पालते हैं और इसी में उन्हें तोष मिलता है।

हम हजार बार 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त दोहराएं, कुछ भी आना-जाना नहीं है। यह सार्थक तब होता है, जब दिशा बदलती है।

राजकुमार अरिष्टनेमि विवाह करने के लिये जा रहे थे। रास्ते में पशुओं का करुण क्रन्दन सुना। सारथी से पूछा—'यह करुण चीत्कार कहां से आ रही है? इतने पशु क्यों एकत्रित किए गए हैं?' सारथी बोला—'ये पशु बारातियों के लिये भोज्य वस्तु हैं। अरिष्टनेमि ने पूछा—क्या ये मारे जाएंगे? क्या ये सब मृत्यु के भय से चिल्ला रहे हैं? सारथी बोला—हां। अरिष्टनेमि ने कहा—सारथी! रथ को मोड़ दो। अब मैं उधर नहीं जा सकता। रथ का मुंह क्या मोड़ा, अरिष्टनेमि का मुह मुड़ गया। जा रहे थे विवाह करने के लिये और चल पड़े संन्यास ग्रहण करने के लिये पर्वत की ओर। तत्काल मुनि बन गए।

यह है दिशा-परिवर्तन। जिसकी दिशा बदल जाती है, वह जागरूक बन जाता है। जब तक जीवन की दिशा नहीं बदलती तब तक यह संभव नहीं होता, सब जीवों को अपने समान समझना संभव नहीं होता। अरिष्टनेमि ने समझ लिया था कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही आत्मा है इन सब पशुओं में है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का स्वर अन्तर् आत्मा में इतना मुखर बना कि उन्हें कभी मान्य नहीं हुआ कि मेरे विवाह के लिये हजारों प्राणियो की बलि दी जाए।

जब तक दिशा नहीं बदलती तब तक जागरूकता नहीं आती।

पिता ने पुत्र से कहा—शहर में विद्वान् मुनि आए हैं। उनका प्रवचन सुना करो। चलो, आज मेरे साथ। बेटा बाप के साथ प्रवचन सुनने गया। मुनि ने अद्वैत पर प्रवचन किया और यह स्पष्ट समझाया कि सभी प्राणी समान हैं, आत्माएं समान हैं। पिता ने भी सुना और पुत्र ने भी सुना। पुत्र का ग्रंथि भेद हुआ, दिशा बदल गई। पिता घर गया और पुत्र दूकान पर जा बैठा। किराने की दूकान थी। यत्र-तत्र अनाज के ढेर लगे हुए थे। एक गाय अनाज खाने लगी। पुत्र देखता रहा। इतने में पिता आ गया। आते ही वह पुत्र पर आग-बबूला हो गया। पुत्र बोला—पिताजी! आज ही तो मुनि ने बताया था कि सब आत्माएं समान हैं। फिर गाय की आत्मा में और हमारी आत्मा में अन्तर ही क्या है? पिता बोला—वह प्रवचन की बात है, व्यवहार की नहीं। यदि तू ऐसा ही करेगा तो दूकान चौपट हो जाएगी, सब जगह एक

मुह जो इधर है, उसे उधर कर दें। सारा परिवर्तन घटित हो जाएगा।

आचरण की बात द्वय है। पहली बात है सम्यग्दर्शन की। यह देखो कि सम्यग्दर्शन प्राप्त है या नहीं ? यदि दृष्टि सम्यग् है तो चरित्र—आचरण स्वतः सम्यग् हो जाएगा। यदि दृष्टि मिथ्या है तो आचरण सम्यग् होने की आशा मत करो, ज्ञान सही होने की आशा मत करो। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है दर्शन का और दिशा-परिवर्तन का।

"परद्रव्येषु लोष्ठवत्"—क्या यह सम्भव है ? बहुत सम्भव है। जिस व्यक्ति का मुंह लालसा की ओर है, राग की ओर है, उसमें विश्व के समस्त धन को बटोरने की लालसा जागृत होती है। उसे कभी कहीं संतोष नहीं होता। बड़े से बड़ा धनवान भी चोरी करता है, व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है। क्या उसके धन की कमी है? नहीं। पर वह ऐसा आचरण इसलिए करता है कि उसका मुंह लालसा की दिशा में है। यदि दिशा बदल जाए तो गरीब से गरीब आदमी भी परधन को पत्थर समझ कर उसका स्पर्श तक नहीं करता।

एक घटित घटना है। दिल्ली के एक होटल मे चार युवक आए। नास्ता-पानी किया और चले गए। होटल मालिक ने देखा कि वे युवक अपना ट्रांजिस्टर वहीं भूल गए हैं। वह उनकी खोज में स्टेशन की ओर दौड़ा। चारों युवक एक डिब्बे में बैठ चुके थे। गाड़ी के रवाना होने में कुछ विलम्ब था। वे आपस में बतिया रहे थे कि देखो, आज हमने उस होटल मालिक को कितना धकमा दिया। बिल आधा चुकाया और आ गए। इतने में ही वह होटल मालिक उनको ढूंढते-ढूंढते वहां पहुंचा और बोला—'आप मेरी होटल पर नास्ता करने आए थे। वहां आप यह ट्रांजिस्टर भूल आए। इसे संभालें।' युवक अवाक् रह गए।

प्रामाणिकता का संबंध न गरीबी से है और न अमीरी से। उसका संबंध है दिशा-परिवर्तन से।

तीसरी बात है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु'। वही व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है, जिसमें दिशा-परिवर्तन घटित हो चुका है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त बहुत विराट् और उदात्त है। पर इसका आचरण उतना उदात्त नहीं रहा, क्योंकि दिशा बदली नहीं। इसीलिये इतने छोटे-छोटे भेद होते गए कि उनका कहीं अन्त नहीं है। दूसरों को छोटा और तुच्छ मानने में बड़ा रस है लोगों में। वे दूसरों को छोटा मानकर अपने बड़प्पन को

जागरूकता : चक्षुष्मान् बनने की प्रक्रिया

'को हि तुलामधिरोहति शुचिना दुग्धेन सहजमधुरेण ।
तप्तं विकृतं मथितं, तथापि यत् स्नेहमुद्गिरति ॥'

दूध को आपने देखा है, पीया है, किन्तु जागरूकता से नहीं पीया, केवल पीने के लिये पीया है, या शरीर को पुष्ट करने के लिये पीया है, या स्वाद के लिये पीया है या आदतवश पीया है। कवि कहता है—दूध जैसा पदार्थ मिलना मुश्किल है। दुनिया मे ऐसा एक भी पदार्थ नही है जो दूध की तुलना कर सके। दूध शुचि है, सहज मधुर है। इसको तपाने पर, विकृत करने पर अर्थात् दही के रूप में जमा देने पर तथा मथने पर भी यह स्नेह देता है, मक्खन देता है। इतने कष्टों से गुजर कर भी इसमें स्नेहदान की अपूर्व शक्ति है। जैसी शक्ति अन्य पदार्थ मे तो क्या, मनुष्य में भी नही है।

हम बात करते हैं समाज को बदलने की। हर व्यक्ति सोचता है कि समाज बदले। यह उचित चिन्तन है। पर बदलाव तब तक नही आ सकता जब तक कि ताप को सहने की क्षमता, उत्पीडन या हानि को सहने की क्षमता और मंथन को सहने की क्षमता नही आ जाती। तीनों क्षमताएं बहुत आवश्यक हैं बदलाव के लिये।

पूरे संसार में समाज को बदलने की विभिन्न प्रक्रियाएं चल रही हैं। मार्क्स ने समाजवाद का सूत्र दिया। उसने 'कम्यून' की एक कल्पना की, साम्यवादी समाज की कल्पना की। ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें राज्य नहीं होगा। साम्यवाद का आदर्श है—राज्यविहीन राज्य। कल्पना तो है राज्यविहीन राज्य की और पूरा समाज जा रहा है कठोर नियंत्रण की दिशा में, जहां नियंत्रण ही नियंत्रण लाया जा रहा है। हमारी दृष्टि में एक भ्रम पैदा हो गया। बदलने की बात जहां से शुरू होनी चाहिए वहां से नहीं हो रही है। बदला जा रहा है अर्थतंत्र को। बदला जा रहा है राज्यतंत्र को। बदला जा रहा है व्यवस्थातंत्र को। जिसे बदलना है उसे नहीं बदला जा रहा है। जब तक मूल बदलने वाला नहीं बदलता तब तक बदली हुई चीजें भी असर नही दिखा पाएंगी। बदलने वाला बदलना चाहिए।

ही बात नहीं चल सकती।

बाप का दिशा-परिवर्तन नहीं हुआ, इसलिये सुनकर भी वह खाली रह गया। बेटे का दिशा-परिवर्तन हुआ और वह खाली नहीं रहा, पूर्ण हो *गया, जाग गया। जिसमें दिशा-परिवर्तन हो जाता है, उसका आचरण भिन्न* होता है।

साधना का अर्थ है—दिशा का परिवर्तन। यह स्वतः नहीं होता। इसके लिये प्रयोग करने होते हैं। धर्म को केवल सुनने से सब में दिशा-परिवर्तन नहीं होता। उसको जीना होता है। सिद्धान्त हमें कहीं नहीं पहुंचाता। सुनी हुई बात दूर तक नहीं ले जाती। हमें प्रयोगों से गुजरना होता है। केवल सुनना भार को बढ़ाना है। आदमी आखिर कितना भार बढ़ाएगा ? निर्भार बनने के लिये परिवर्तन करना ही होगा। जो सुनते हैं, उसे जीवन में घोल दें, तो भार नहीं बढ़ेगा। चीनी भारी होती है। एक कटोरा पानी से लबालब भरा है। एक बूंद भी उसमें नहीं समा सकती। पर आप उसमें चीनी डालें। वह समा जाएगी, क्योंकि वह पानी में घुल जाती है। इसी प्रकार जो सुना है, उसे आचरण में घोल दें। भार नहीं बढ़ेगा और *आचरण भी सुस्वादु हो जाएगा।*

परिवर्तन के लिये केवल सिद्धान्त ही नहीं, प्रयोग की आवश्यकता है। हम सिद्धान्त और प्रयोग—दोनों का समन्वय कर दिशा-परिवर्तन का अनुभव करें।

जो चींटी के मर जाने पर कंपित हो उठते हैं, बिना छाना पानी नहीं पीते, वे मनुष्य की हत्या करते समय कंपित नहीं होते। क्या यह मनुष्यता है? ऐसी स्थिति में हम धर्म-कर्म की बात क्यों करें? किसके समक्ष करें? आज हम बात कर रहे हैं जागरण की, पर आदमी तो गहरी मूर्च्छा में जा रहा है, गहरी नींद में जा रहा है। और आश्चर्य तब अधिक होता है जब सास बहू को जिन्दा जला डालती है। स्त्रीजाति स्वयं स्त्रीजाति का अपमान करती है प्रहार करती है तब लगता है मूर्च्छा कितनी गहरी है। उसका पार नहीं पाया जा सकता। लगता है, पूरी मानवजाति क्रूरता की ओर बढ़ रही है।

धर्म का पहला लक्षण है करुणा का विकास, अनुकंपा का विकास। जिसके मन में करुणा नहीं है, अनुकंपा नहीं है, जिसके हाथ दूसरों को सताते समय नहीं कांपते, तो मानना होगा कि धर्म कहीं छुआ भी नहीं।

हमें इस क्रूरता का कारण खोजना होगा। व्यक्तिगत रूप में कोई क्रूर होता है तो बात समझ में आ जाती है। व्यक्तिगत रूप में कोई चोर हो सकता है, डाकू, लुटेरा और हत्यारा हो सकता है, पर पूरे समाज के साथ अन्याय करना यह बीसवीं शताब्दी की नई घटना है।

आज जब पूछा जाता है कि बीमारियां क्यों बढ़ रही हैं तब उत्तर मिलता है कि आज ऐसा जमाना आ गया कि यहां न शुद्ध आटा मिलता है, न शुद्ध घी और दूध मिलता है और यहां तक कि पानी भी शुद्ध नहीं मिलता। यही कारण है बीमारियों के बढ़ने का। क्या यह अशुद्धि गरीबी के कारण आई है? नहीं, ऐसा नहीं है। गरीबी पहले भी थी, पर इतनी अशुद्धि नहीं थी। यह अशुद्धि गरीबी के कारण नहीं, क्रूरता के कारण आई है। मनुष्य में करुणा का स्रोत सूखता जा रहा है और क्रूरता पनपती जा रही है। जैसे जैसे क्रूरता का विकास होगा, आदमी भेड़िया बनता जाएगा। वास्तव में धन के प्रति जितना लोभ होता है उतनी ही क्रूरता बढ़ती है। तब फिर भाई भाई को, पिता पुत्र को और पुत्र पिता को मारने में नहीं हिचकता। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि क्रूरता का कारण है—लोभ।

अर्थशास्त्रियों ने इस क्रूरता को बढ़ाने में परोक्षतः हाथ बंटाया है। उनका सूत्र है—इच्छा का विस्तार। इच्छा बढ़ेगी तब पदार्थ का विकास होगा और पदार्थ का विकास समाज के विकास का लक्षण है। 'इच्छा का विस्तार'—इस सूत्र से हर आदमी के मन में इतनी आकांक्षा जाग गई कि लखपति करोड़पति बने बिना शांति से नहीं बैठता। अर्थ का विस्तार उसका

समाज परिवर्तन के लिये सबसे पहली आवश्यकता है चक्षु की निर्मलता। आंख चाहिए। आंख वाला चाहिए। चक्षुष्मान् व्यक्ति चाहिए। वही समाज को बदल सकता है।

चक्षुष्मान् सचाई को देखता है। सचाई को वही व्यक्ति देख सकता है जिसमें सत्य के प्रति निष्ठा होती है। सत्यनिष्ठा समाज को बदलने का पहला सूत्र है। मैं समाज के स्थान पर घटक मानता हूं व्यक्ति को। एक व्यक्ति के बदलने का तात्पर्य है समाज का बदलना।

दूसरा सूत्र है—शांतिपूर्ण जीवन। जब तक स्वयं के जीवन में शांति नहीं होती, तब तक समाज को बदलने की बात प्राप्त ही नहीं होती।

तीसरा सूत्र है—करुणा। जिस व्यक्ति में करुणा का स्रोत सूख गया, वह बदलाव की बात नहीं कर सकता। मन में बहुत ग्लानि होती है जब मैं देखता हूं कि जो अपने आपको धार्मिक मानते हैं, जैन और वैष्णव मानते हैं, वे कितने क्रूर हैं। उनकी क्रूरता को देखकर मन उद्वेलित हो उठता है। ईसाइयों में भी कितनी क्रूरता है। सेवा की बात सारा पाखंड है। एक ओर सेवा, दूसरी ओर क्रूरता। वे लाखों आदमियों को एक साथ मौत की घाट उतार देने में कोई संकोच का अनुभव नहीं करते। मानो क्रूरता मूर्तिमान् होकर आ गई हो।

क्रूरता के बिना मिलावट नहीं हो सकती। मिलावट करने वाले धार्मिक हैं या नास्तिक? गहराई में उतरकर चिन्तन करें कि उनमें कितनी क्रूरता है। वे मिलावट कर कितना अन्याय करते हैं। एक ओर पूजा-पाठ भी चलता है और दूसरी ओर यह क्रूरता भी चलती है। लगता है कि हमारा धर्म और भगवान् ही ऐसा बन गया कि हम सौ बुराइयां करें, फिर भी वे हमें पनाह देते रहते हैं। हमने धर्म को इन ढकोसलों को ढंकने का साधन मान लिया। समाचार पत्रों में जब मैं पढ़ता हूं कि दहेज के कारण अमुक युवती की हत्या कर दी गई, जला दिया गया, तब सोचता हूं कि जिसे हम चिन्तनशील और मननशील मनुष्य मानते हैं, क्या यह उन्हीं मानवों का समाज है। मानवों का समाज कहने में लज्जा का अनुभव होता है। यह तो दानवों और पशुओं का समाज है। पशु भी इतना क्रूर व्यवहार नहीं करते। वे भी व्यर्थ की हिंसा नहीं करते। सिंह भी बिना भूख के या बिना प्रयोजन के हिंसा नहीं करता। पर मनुष्य इसका अपवाद है। थोड़े से लोभ के कारण वह अपने जैसे प्राणी की हत्या कर देता है। परम दयालु और कृपालु लोग

जागरूकता : जीवन-व्यवहार

जीवन का एक क्रम है सोना और जागना। आदमी एक स्तर पर जागता है। जब चेतन मन जाग जाता है तब हम कह देते हैं कि आदमी जाग गया। चेतन मन सोता है तो हम कह देते हैं कि आदमी सो गया। किन्तु जिन लोगों ने गहरे में उतर कर देखा तो लगा कि चेतन मन जागा हुआ है और आदमी सोया हुआ है, चेतन मन सोया हुआ है और आदमी जागा हुआ है।

राजसमंद। तुलसी साधना शिखर। ध्यान गुफा—चित्-प्रेक्षा। अमेरिकन युवक रोबर्ट। वह प्रतिदिन वहीं सोता था। एक दिन वह बोला—मैं गुफा में सो रहा था। मैंने देखा, मेरा एक शरीर सो रहा है और मैं उसे देख रहा हूं। एक शरीर नींद ले रहा है और दूसरा जाग रहा है। एक स्वप्न देख रहा है, दूसरा स्वप्न देखने वाले को देख रहा है।

दो स्तर हैं। एक है चेतन मन का स्तर और दूसरा है अचेतन मन का स्तर। एक है चेतन मन के स्तर पर सोना-जागना और दूसरा है अचेतन मन के स्तर पर सोना-जागना। हम सोने और जागने की बात को स्थूल रूप में समझते हैं कि आदमी रात में सो गया और दिन उगते ही जाग गया। कहां सोया, कहां जागा? जब तक स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता तब तक आदमी जागता नहीं। महावीर का महत्त्वपूर्ण वचन है—'सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति' जो अमुनि है, अज्ञानी है, वह सदा सोया हुआ है। जो मुनि है, ज्ञानी है, वह सदा जागता है। अमुनि जागता हुआ भी सोता है और मुनि सोता हुआ भी जागता है। गीता में भी यही कहा—कुछ ऐसे हैं जो सोते हुए भी जागते हैं और कुछ ऐसे हैं जो जागते हुए भी सोते है। संयमी सोता हुआ भी जागता है और असंयमी जागता हुआ भी सोता है। हमें अध्यात्म के संदर्भ में सोने और जागने की भाषा को समझना चाहिए। जो व्यक्ति भीतर मे जाग जाता है, वह जाग गया, चाहे फिर वह अवस्था में छोटा ही क्यों न हो। जो व्यक्ति भीतर में जागा हुआ नहीं है, वह चाहे पचास वर्ष की आयु भी पार कर गया, फिर भी वह सोया हुआ ही है।

जीवनलक्ष्य वन गया। इससे क्रूरता को पनपने का अवसर मिला। एक वात हुई कि सृष्टि-संतुलन की शाखा ने समाज के सामने एक वात रखी कि पदार्थ सीमित हैं, इच्छाएं अनन्त हैं। यदि इच्छाओं और आकांक्षाओं का विस्तार होता गया तो समस्याएं अनन्त बन जाएंगी। उनका कभी अन्त नहीं होगा। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा पर नियंत्रण करना चाहिए। जब इच्छा पर नियंत्रण करने की वात आएगी तो समाज को बदलने की बात सोची जा सकेगी। यह बदलाव यथार्थ का बदलाव होगा। इच्छा पर नियंत्रण किए विना बदलाव की वात सोचना वीमारी को वढावा देना है। आज हर व्यक्ति अर्थ-लोलुपता की बीमारी से ग्रस्त है। आज जितना धन का मूल्य है, उतना मनुष्य का नहीं है।

बदलने के लिये करुणा का विकास जरूरी है और इच्छा पर नियंत्रण आवश्यक है। यदि हम इच्छा पर नियंत्रण नहीं कर पाए तो शताब्दी के बीतते-बीतते 'पुनर्मूषको भव' वाली बात चरितार्थ हो जाएगी।

आज के आनुवंशिकी वैज्ञानिक बतलाते हैं कि व्यक्ति के स्वभाव का निर्माण भीतर में होता है, जीन के साथ होता है। कल ही एक लेख पढ़ा था—'काम और परमाणु युद्ध'। उसमें प्रसंगवश चर्चा थी कि आदमी का स्वभाव हारमोन्स के द्वारा निर्धारित होता है और वह पहले ही सम्पन्न हो जाता है। जहां हमारा स्वभाव बनता है, वहां जाकर जागें, यह है जागना। यदि हम वहां नहीं पहुंच पाते हैं तो जागने और सोने में कोई अन्तर नहीं होता। दोनों एक जैसे हैं। जागना सोना है और सोना जागना है। तो वहां जाकर जागना है जहां आदमी का व्यवहार बदलता है।

आज एक ज्वलंत प्रश्न सामने आता है कि आज धर्म चल रहा है, पर व्यवहार बदल नहीं पा रहा है। आदमी वैसा का वैसा है। इसके कारण की खोज अणुव्रत आन्दोलन ने की। उसका सूत्र है कि धर्म का आचरण मुख्य है, उपासना नहीं। पहला स्थान है धर्म का और दूसरा स्थान है उपासना का। परन्तु आज उपासना ने धर्म को पीछे ढकेल कर पहला स्थान ग्रहण कर लिया है, इसीलिये धर्म निस्तेज-सा प्रतीत होने लगा है और उसका जो परिणाम आना चाहिए, वह नहीं आ रहा है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपासना का अधिकार उसी व्यक्ति को मिलना चाहिए जिस व्यक्ति का आचरण पवित्र है। यदि अपवित्र आचरण वाला व्यक्ति भगवान् का जाप करेगा तो क्या भगवान् को संकोच नहीं होगा। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि चरित्रवान् व्यक्ति चरित्रभ्रष्ट व्यक्ति के पास बैठने में संकोच का अनुभव करता है। तो क्या भगवान् अपवित्र आचरण वाले व्यक्ति के जाप से संकोच का अनुभव नहीं करेंगे ?'

जैन परम्परा में पापों की एक वर्गीकृत सूची है। उसमें अठारह पाप बतलाए गए हैं। यदि इन पापों को सामने रखकर आदमी जीवन व्यवहार करता है तो वह स्वतः अनेक बातों से बच जाता है। सबकी नहीं दो-चार पापों की चर्चा प्रस्तुत करता हूं। अठारह में से ये चार पाप हैं—कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य और पर-परिवाद। इनकी भाषा शाश्वत है। कल एक भाई ने पूछा था, क्या पुण्य और पाप की भाषा शाश्वत है या अशाश्वत ? सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में पुण्य और पाप की भाषा बदलती रहती है और राग-द्वेष के संदर्भ में उनकी भाषा शाश्वत है। कलह त्रैकालिक दोष है। आदमी को कलह में बहुत रस आता है। वह सदा कलह से बचना नहीं, चाहता, फंसना चाहता है। धार्मिक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सदा